समीक्षार्थ प्रेषित

श्री गणेश प्रसाद वर्णी दि०जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत
सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री स्मृति व्याख्यानमाला-४

# गुरू परंपरा से प्राप्त दिगम्बर जैन आगम-एक इतिहास

*व्याख्यानकर्त्ता*
डा० एम०डी० वसंतराज

*प्रकाशक*
सि०पं० फूलचन्द्र शास्त्री फाउन्डेशन, रूड़की
के सहयोग से
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी - २२१ ००५

व्याख्यानमाला संयोजक,
डॉ.फूलचन्द्र जैन प्रेमी, वाराणसी



आई एस बी एन ८१–८६६५७–४६–४

प्रथम सस्करण– दिसम्बर २००१

मूल्य रु० ४०/–

**मुद्रक :**

***अजय प्रिंटर्स एवं पब्लिशर्स,***
१६, सिविल लाईन्स, रूडकी – २४७ ६६७
दूरभाष . ०१३३२ – ७३१४०, ७४७४०

Shree Ganesh Prasad Varni Dig. Jain Granthmala
Sidhantacharya Pt. Phoolchandra Shastri Memorial Lecture
Series - 4

# HISTORY OF THE EXTANT DIGAMBARA JAIN AGAMA

*By*

Dr. M.D. Vasantharaj

*Published by*

Shree Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan
Naria, Varanasi - 221 005

*in association with*

Sidh. Pt. Phoolchandra Shastri Foundation
Roorkee - 247 667

Lecture Series Convener,
Dr. Phoolchandra Premi, Varanasi



**ISBN 81-86957-46-4**

First Edition, December 2001

Price : Rs. 40/-

*Printed at :*

**Ajay Printers & Publishers**
19, Civil Lines, Roorkee - 247 667
Phone : 01332-73140, Fax : 74740
E.mail : mehta@ndb.vsnl.net.in

# प्रकाशकीय वक्तव्य

सि०पं० फूलचन्द्र शास्त्री व्याख्यानमाला की चतुर्थ कडी के रूप में वयोवृद्ध विद्वान प्रो० (डा०) एम०डी० वसंतराज द्वारा २ सितंबर तथा ३ सितंम्बर १९९९ को संस्थान भवन में तीन व्याख्यान प्रस्तुत किये गये थे। इन व्याख्यानों का विषय था "गुरु परंपरा से प्राप्त जैन आगम"। इन व्याख्यानों का मुद्रित स्वरूप इस पुस्तक के रूप में आपके सम्मुख रखते हुये मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। इस पुस्तक में प्रो० वसन्तराज ने अपने जीवन भर के शोध को गागर में सागर के समान भर दिया है।

चूंकि प्रो० वसन्तराज कन्नड़भाषी हैं, अतः इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद उनके मित्र श्री बाहुबलि भोसगे आचार्य ने अत्यन्त श्रमपूर्वक किया है। दोनों ही कन्नडभाषी हैं, अतः भाषा में कन्नड की मिठास स्वाभाविक है। भाषा की कोई बड़ी त्रुटि न हो इस दृष्टि से पूरी पुस्तक का परिमार्जन तथा संशोधन प्रसिद्ध विद्वान डा० कपूरचंद जी, खतौली ने किया है। इस कार्य में उन्हें अनेक माह लगे। अपना अमूल्य समय उन्होंने इस कृति को दिया, इसके लिये संस्थान तथा फाउंडेशन दोनों ही डा० कपूरचंद जी को धन्यवाद देते हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक चर्चा का विषय बनेगी। इसमें अनेक बिन्दुओं पर सर्वथा नयी दृष्टि डाली गयी है। चूँकि इतिहास लेखन की परंपरा पूरी भारतीय संस्कृति की एक कमजोर विधा रही है, अतः हमें एक हजार वर्ष पुराना इतिहास भी ठीक से ज्ञात नहीं होता। जहॉ तक जैन इतिहास की बात है, वे तो इसमे और भी आलसी रहे हैं। दिगम्बर–श्वेताम्बर का टकराव नये–नये मिथकों को जन्म देता आया है। एक बार मैंने एक विद्वान से कहा है कि दिगंबर प्राचीनतम है – इसके लिये विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार पुरानी वस्तु, पुराना वस्त्र आदि अनायास प्राचीन दिखते हैं उसी प्रकार दिगंबरत्व भी प्राचीन है यह तो उसको देखने से ही ज्ञात हो जाता है। वे विद्वान निरूत्तर हो गये।

इस व्याख्यानमाला के संचालन तथा प्रकाशन का भार सि०पं० फूलचन्द्र शास्त्री फाउंडेशन ही उठाता है। इसमें सर्वाधिक सहयोग संस्थान के ट्रस्टी तथा अध्यक्ष (ट्रस्ट) श्री केशवदेव जी जैन, कानपुर का रहता है। वे स्वयं हर व्याख्यानमाला में उपस्थित होते हैं तथा साथ में श्री राजू भैया (राजकुमार जैन) को भी लाते हैं। श्री राजकुमार जी अत्यन्त श्रद्धालु, धर्मप्राण व्यक्ति हैं तथा संस्थान की कार्यकारिणी के सदस्य भी हैं। हम इन दोनों महानुभावों के हार्दिक आभारी हैं।

सस्थान के उपाध्यक्ष तथा व्याख्यानमाला के संयोजक, डा० फूलचन्द्र जी प्रेमी जिस उत्साह से इस व्याख्यानमाला का आयोजन करते है, वह प्रशंसनीय है। वे ही नहीं उनकी धर्मपत्नी डा० पुष्पा जैन, तथा पुत्र–पुत्री भी इस कार्यक्रम में पूरा सहयोग करते आये हैं। संस्थान के कार्यकारी निदेशक डा० कमलेश कुमार जैन, सं० मंत्री सिंघई खुशालचन्द्र जी तथा उपमत्री श्री पद्म कुमार जैन सदा अपना पूरा सहयोग देते आये है। हम इन सबके भी आभारी हैं। अन्त में, मैं संस्थान की प्रतिदिन की व्यवस्था सभालते डा० कपिलदेव गिरि को भी धन्यवाद देता हूँ, जो निस्वार्थ भाव से सभी कार्य करते रहते है।

**प्रो० (डा०) अशोक जैन**
मत्री, श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी
अध्यक्ष, सि०पं० फूलचन्द्र शास्त्री फाउंडेशन, रुडकी

# निवेदन

**श्री वर्धमानमजितं जिनवर्धमानं**
**त्वां तं नये स्तुतिपथे पथि संप्रधौते ।**
**योऽन्त्योऽपि तीर्थकरमग्रिमप्यजैषी-**
**त्काले कलौ च पृथुलीकृतधर्मतीर्थः ।।**

## मेरा अनुभव

जीवन में ऐसी कई घटनाएँ, परिस्थितियाँ आती हैं जिनकी हमें कोई कल्पना भी नहीं रहती, ये घटनायें हमें कार्य प्रवृत्त करती हैं। जैन धर्म, जैन सिद्धान्त के शोधपरक अध्ययन में मेरी रुचि बनने तक मेरी आयु के तीस वर्ष बीत चुके थे। यह रुचि उत्पन्न होना भी एक आकस्मिक घटना थी। परमपूज्य राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि महाराज की 'विश्वधर्म की रूपरेखा' कृति किसी ने मुझे दे दी, इसने मुझमें एक नए चिंतन को जन्म दिया। उसके बाद जैनधर्म के सिद्धान्त के अध्ययन में मेरी विशेष रुचि उत्पन्न हुई। इस प्रकार इस अध्ययन में अमूल्य प्रेरणा के कारणभूत परमपूज्य राष्ट्र संत आचार्य श्री विद्यानन्द मुनि महाराज जी के प्रति यहाँ आरंभिक रूप में विनयांजलि के साथ नमस्कार अर्पित करता हूँ।

हमारे आगम साहित्य के इतिहास के अध्ययन में 'श्वेतांबर पंथ का आगम और उसकी भाषा ही मौलिक हैं दिगंबर पंथ का आगम साहित्य Secondary Canon, Substitute Canon, Pro-canon (दूसरे दर्जे का आगम, प्रातिनिधिक आगम) है,' इत्यादि प्रतिपादन वाली कृतियों की बाढ़ दिखाई दी। इस बारे में दिगंबरपंथ के विद्वानों के अभिमत क्या हैं, यह जानने का यथाशक्ति प्रयास किया। लेकिन दिगंबर पंथ के आगम को 'प्रोकेनन' कहकर उस प्रकार प्रतिपादन किया है तब उससे अधिक क्या कहा जा सकता था। यह विचारधारा, दिंगबर पंथ के प्राचीन स्वरुप से भी बिल्कुल मेल नहीं खाती है। इस दिशा में मैंने चिंतन, मनन व अध्ययन प्रारंभ किया। इसके परिणाम–स्वरूप मुझे जो कुछ वस्तुस्थिति समझ में आई, उसे कन्नड में प्रबंधरूप में, छोटी पुस्तिका (पोथी) के रूप में

प्रकाशित किया गया। लेकिन यह मेरे समग्र चिंतन का प्रकाशन नहीं था। मेरे समग्र चिंतन को विद्वानों के सम्मुख रखने की इच्छा मन में बनी ही रही। भाग्य से मानों इसकी पूर्ति के लिए ही अनिरीक्षितरूप से श्री गणेश वर्णी दिगंबर जैन संस्थान के आश्रय में दिवंगत सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्र शास्त्री जी की स्मृति में चौथा व्याख्यान देने के लिए आदरणीय मान्य शास्त्री जी के सुपुत्र मान्य प्रोफेसर अशोक कुमार जैन का दि. २३ अप्रैल ९६ का पत्र प्राप्त हुआ। इसे सहर्ष स्वीकार कर पुस्तिका के लिए कन्नड में आलेख तैयार किया। इसका हिंदी अनुवाद मेरे आप्त मित्र मान्य श्री बाहुबलि भोसगे आचार्य ने अपने सब कार्यों को गौण करके अमित सौजन्य एवं सौहार्द भाव से किया है। इन महोदय को हार्दिक शुभाशयों के साथ कृतज्ञता और धन्यवाद समर्पित करता हूँ। इसी प्रकार इस लघु पुस्तिका के लेखनकार्य के समय इसे पढकर अच्छी तरह से तैयार होने में सहायता–सहयोग देनेवाले मेरे मित्र डॉ. सुरेश कुमार जी के प्रति भी शुभ–कामनाओं के साथ कृतज्ञता व धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

हमारे परमागम ग्रंथ–षट्खण्डागम और कषायपाहुड टीकाओं सहित मूडविद्री में सुरक्षित रह कर आज हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित हुए हैं। समय–समय पर इन परमागमों पर टीका लिखकर इन्हे हमारे परमपूज्य आचार्यों ने जीवित रखा है। इसी प्रकार इनका हिंदी अनुवाद करके विशाल व्यापकता से प्रकाश में लाए हुए आचार्यकल्प विद्वान समाज में अपार आदर–सम्मान के पात्र बने हैं। इस कार्य में सम्मान्य दिवगत सिद्धान्ताचार्य पडित फूलचंद्र शास्त्री जी का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी – 'सिद्धान्ताचार्य' और 'पंडित' प्रशस्ति–उपाधियों को अन्वर्थ रूप से सार्थक सिद्ध किया है। ये महानुभाव प्रत्यक्ष न सही परोक्षरूप से मेरे गुरू रहे हैं। जैन सिद्धान्त में सही अर्थ में मेरा प्रवेश 'सर्वार्थसिद्धि' के अध्ययन के माध्यम से हुआ। मान्य श्री सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा हिन्दी में अनूदित तथा सम्पादित सर्वार्थसिद्धि का प्रस्तावना सहित– आद्यन्त चार बार तल्लीनतापूर्वक मैंने पठन किया है। षट्खण्डागम और कषायपाहुडों के अंतरंग को समझने में इनके (पं०जी के) हिन्दी अनुवाद से बडी सहायता मिली है। इस प्रकार परोक्षरूप

से मेरे लिए गुरू बने पं० जी के प्रति विनयांजलि के साथ नमस्कार करता हूँ। इन्हीं की स्मृति के रूप में व्याख्यान देने का अवसर मिलना मैं अपना अहोभाग्य–समझता हूँ, और इस व्याख्यान के लिए आमन्त्रण देने वाले प्रोफेसर अशोक जैन के प्रति हार्दिक आभार के साथ धन्यवाद प्रकट करता हूँ। सम्मान्य सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्र शास्त्री जी के सुपुत्र (अशोक जी) अपने पूज्य पिता के स्मरणार्थ कार्ययोजनाओं को निष्ठापूर्वक सफलता के साथ चला रहे हैं– यह वास्तव में प्रशंसनीय है। इन्हें और इनके समस्त परिवारजनों के प्रति सब प्रकार की सुख सम्पत्ति–समृद्धि की हार्दिक शुभ कामनाएँ प्रकट करता हूँ।

वाराणसी के श्री गणेश वर्णी दिगंबर जैन संस्थान की धार्मिक और सामाजिक पुरोभिवृद्धि के कारण स्वरूप सफल आयोजनों के बारे में सुना है। इस सस्था की प्रगति के लिए निष्ठा के साथ कार्य में मग्न और मेरे इस व्याख्यान के कार्यक्रम के आयोजन में स्नेहपूर्वक कार्यनिरत मान्य मित्र डॉ. फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' के प्रति मित्रतापूर्वक आभार और धन्यवाद प्रकट करता हूँ। इसी प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से इस कार्य में सहयोग देने वाले सब महानुभावों के प्रति भी कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

जय जिनेन्द्र,<br>
मैसूर<br>
दिनांक : २६.६.१९९९ **एम.डी. वसंतराज**

# विषय सूची

# गुरूपरंपरा से प्राप्त जिनागम

**जिणमुहुग्गदवयणं पुव्वापरदोसविरहिंद सुद्धं ।**
***आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ।।८।।***

भगवान वर्धमान – तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के उपदेश के आधार से परमर्षि इन्द्रभूति गौतमगणधर द्वारा ग्रन्थरूप में रचित द्वादशांग श्रुत–आगम और उस आगम के आधार पर अन्य महर्षियों द्वारा रचित ग्रंथ व द्वादशांग के अवशेष भाग ग्रंथों को आगम ग्रंथों की मान्यता प्राप्त है।

श्वेतांबर जैन आम्नायानुसार गौतमगणधर से ही नहीं बल्कि अन्य गणधरों से भी द्वादशांग जिनागम की रचना हुई थी। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् दिगंबर जैन आम्नायानुसार १६२ वर्ष तक और श्वेतांबर आम्नायानुसार १७० वर्ष तक द्वादशांग श्रुत की अविच्छिन्न धारा शब्द व अर्थरूप में परिपूर्ण होकर महर्षियों की स्मृति में बनी रही। लेकिन महर्षियों के नामोल्लेख में दिगंबर व श्वेतांबर आम्नायों में उल्लेखनीय मतभेद हैं। भगवान महावीर के बाद के प्रथम तीन (केवल ज्ञान संपन्न) केवली – गौतम, सुधर्म व जम्बूस्वामी के नाम और उनके अनुक्रम के कथन में मतभेद नहीं है। लेकिन इनकी केवली अवस्था के समय के कथन में मतभेद है। श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार इनका समय क्रमशः १२ वर्ष, ८ वर्ष और ४४ वर्ष– इस प्रकार कुल ६४ वर्ष है।[1] इस आम्नाय के अनुसार सुधर्मस्वामी भगवान महावीर के उत्तराधिकारी हैं।[2] इसी प्रकार इस आम्नाय के अनुसार जम्बूस्वामी के समय में दस वस्तुओं का लोप हुआ और उनमें से एक जिनकल्पी अवस्था भी है।[3] जंबूस्वामी के बाद के श्रुतकेवलियों के अनुक्रम को कहने में भी दिगंबर व श्वेतांबर आम्नायों में मतभेद हैं। श्वेतांबर आम्नाय के अनुसार द्वादशांग चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली युगप्रधान आचार्यानुक्रम इस प्रकार है ·

| | नाम | युगप्रधान आचार्य पद अवधि | श्री वीर निर्वाणकाल गणनानुसार |
|---|---|---|---|
| १. | प्रभवसूरि | ११ वर्ष | ७५ वर्ष तक |
| २. | शय्यभवसूरि | २३ वर्ष | ६८ वर्ष तक |
| ३ | यशोभद्रसूरि | ५० वर्ष | १४८ वर्ष तक |
| ४. | सभूतिविजयसूरि | ८ वर्ष | १५६ वर्ष तक |
| ५. | भद्रबाहुस्वामी[४] | १४ वर्ष | १७० वर्ष तक |
| ६. | स्थूलभद्रसूरि | ४६ वर्ष | २१६ वर्ष तक |
| | अथवा | | |
| | तपागच्छ पट्टावली | | |
| | के अनुसार[४] | ४५ वर्ष | २१५ वर्ष तक |

## आगम की वाचनाएँ

प्रस्तुत संदर्भ में आगम के प्रथम पुनरूत्थान की घटना के संबंध में श्वेतांबर परम्परा के कथन का उल्लेख प्रासंगिक है। जैसा पीछे कह आए हैं – संभूतिविजयसूरि जी का वीरनिर्वाण संवत् १५६ में स्वर्गवास हुआ है। हेमचंद्राचार्य के कथनानुसार वीर निर्वाण संवत् के १५५ वर्षों के व्यतीत होने पर अर्थात् १५६ वें वर्ष मे चंद्रगुप्त मगध में राज्याभिषिक्त हुआ। इसके पश्चात् १२ वर्ष का अकाल पडा। इससे उत्पन्न आहार के अभाव के कारण आगम श्रुत के धारक अनेक साधु स्वर्गवासी हो गए। कुछ साधु समुद्रतट जैसे दूरवर्ती प्रदेशों में जाकर समय व्यतीत करने लगे। अकाल के समाप्त होने पर पाटलीपुत्र नगर में साधुसघ एकत्रित हुआ। उस में जिस–जिस साधु को जितने–जितने आगम का स्मरण था, उसका संकलन कर आचारांग आदि एकादश आगमों का पुनरुत्थान किया गया। इसे आगम की प्रथम वाचना स्वीकार किया गया है। आगम के पुनरूत्थान के लिए सम्मिलित श्री सघ को बारहवें अंग–दृष्टिवाद के किसी को भी स्मरण न होने का पता चला। तब नेपाल में (अथवा नेपाल के मार्ग मे) स्थित एक मात्र भद्रबाहुस्वामी ही दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं, यह सोचकर श्री संघ ने उसके उपदेश के लिए भद्रबाहुस्वामी को आदेश भेजा। पहले भद्रबाहु स्वामी ने स्वीकार नहीं किया पर श्रीसंघ द्वारा उन्हें दण्ड दिए

जाने की आशंका से स्वीकार कर लिया। इसके बाद इस अध्ययन के लिए उनके पास गए बहुसंख्यात साधुओं मे से केवल स्थूलभद्रस्वामी इसका अध्ययन करने में सक्षम हुए। इन्होंने आठ वर्ष की अवधि में आठ पूर्वो का अध्ययन पूरा किया। आगे भद्रबाहुस्वामी के महाप्राणध्यान पूर्ण करने तक स्थूलभद्र ने वस्तुद्वय अधिकारों से न्यून दस पूर्वों का अध्ययन किया। फिर बिहार करते हुए भद्रबाहुस्वामी और स्थूलभद्रसूरि पाटलीपुत्र नगर पहुँचे। वहॉ स्थूलभद्र द्वारा अपने दर्शनार्थ आई बहिनों को सिंह रूप धारण कर दिखाने की घटना को जानकर भद्रबाहुस्वामी ने उन्हे दृष्टिवाद अग के शेष पूर्वों के पाठ का उपदेश देने से इन्कार कर दिया। लेकिन श्रीसंघ के अनुरोध से अन्तिम चार पूर्वों का अर्थ न बताकर मात्र पाठ देना तथा उस पाठ को 'भविष्य में स्थूलभद्र किसी को उपदेश न करें' इस प्रकार शर्त रखकर अन्तिम चार पूर्वो का पाठ दिया। इसके पश्चात् स्थूलभद्रस्वामी को आचार्य पद देकर भद्रबाहुस्वामी समाधिमरण को प्राप्त हुए।[६]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्थूलभद्रसूरि जी को अन्तिम द्वादशांग चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली के रूप में विशेष पूज्य भाव प्राप्त है। इनके स्वर्गवास होने के वर्ष ही चन्द्रगुप्त द्वारा नन्द को मार डालने की बात कही गई है।[७] इनके बाद महागिरिसूरि और सुहस्तिसूरि संघ के प्रधानाचार्य बने। आर्य सुहस्ति द्वारा साधुसंघ में शिथिलाचार पनपने के कारण आर्य महागिरि ने अतीव असमाधान व्यक्त किया।[८] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि आर्यमहागिरि ने जिनकल्पी आचरण फिर आरम्भ किया।[९] इनकी व आर्य सुहस्ति की अलग–अलग शिष्य परम्परा को नन्दिसूत्र में बताया गया है।[१०] लेकिन तपागच्छ व खरतरगच्छ पट्टावलियों में मात्र आर्य सुहस्ति की शिष्य परम्परा को ही बताया गया है।

श्वेताम्बर आगम की अगली वाचना वीरनिर्वाण के ८२७ और ८४० वर्षों के बीच के समय में हुई। बारह वर्ष के अकाल के कारण स्कन्दिलसूरि के अतिरिक्त शेष सब अनुयोगधारियों के स्वर्गवासी होने के कारण स्कंदिलसूरि ने साधुओं के सम्मेलन का आयोजन कर उन साधुओं से प्राप्त श्रुतांशों के संकलन के द्वारा 'कालियसुय' की रचना की। इसे

'स्कांदिलीय वाचना' या 'माथुरी वाचना' कहा गया है। यह वाचना शूरसेन प्रदेश में होने के कारण इस पर शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव पड़ा होगा, ऐसा कहा गया है।[११] इसी समय के आसपास वलभि में नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में सम्पन्न वाचना को 'नागार्जुनी वाचना' या 'वलभी–वाचना' कहा गया है। दुर्भाग्य से इन दोनों वाचनाओ के बीच आपस में मतभेदों के कारण सामंजस्य नहीं था। कई साल बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण जी के नेतृत्व में वलभि में हुए साधुसम्मेलन में उक्त दोनों वाचनाओं में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया। इस सम्मेलन में उस समय उपलब्ध सब प्रमुख जैन कृतियों को लिपिबद्ध किया गया। इस घटना को 'जैन आगमों का पुस्तकारोहण' या (रिडैक्शन) 'जैनागमपुनरूद्धरण' कहा गया है। यह घटना वीरनिर्वाण संवत् ९८० या ९९३ मे हुई है। इस जैनागमपुनरूद्धरण के साधु सम्मेलन के अध्यक्ष श्री देवर्धिगणिक्षमाश्रमण जी के प्रति सामाचारीशतक' में कही बात 'तओ मूलतों गणधरभाषितानमपि आगमानां कर्त्ता श्री देवर्धिगणिक्षमा श्रमण एव जातः' (इस कारण गणधर द्वारा कहे हुए होने पर भी आगमों के कर्त्ता देवर्धिगणि ही हैं) – ध्यान देने योग्य है।[१२]

आगम साहित्य को मुख्यरूप से **अंगप्रविष्ट** और **अनंगप्रविष्ट** अथवा अंगबाह्य – इस तरह दो प्रकार बांटा गया है। गणधर द्वारा रचित द्वादशाग अंगप्रविष्ट और अन्य श्रुतकेवली और ऋषियों द्वारा रचित साहित्य अगबाह्य कहा गया है। श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार देवर्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा सम्पन्न आगम–पुनरुत्थान के पश्चात् अंगप्रविष्ट–द्वादश (बारह) अंगो में बारहवां दृष्टिवाद अंग लुप्त हुआ है और उसके बिना आयारादि विवागसुय तक मात्र ग्यारह अग ही बचे हैं। इन अंगो के साथ अंगबाह्य वर्ग के बारह उपांग, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नामक दो मूल सूत्र, नन्दी और अनुयोगद्वार नामक चूलियासुत्र तथा व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्रो को आगमग्रथ माना गया है।[१४] लेकिन अंगबाह्य वर्ग के आगमग्रंथों की संख्या बताने मे श्वेतांबरपंथ की विभिन्न शाखाओं में मतभेद है।

**प्रथम वाचना की ऐतिहासिकता**

श्वेताम्बर आगम के पुनरुत्थान का कारण प्रथम वाचना, इसी आम्नाय के कथनानुसार पाटलीपुत्र में चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक होने के बाद पडे १२ वर्षों के अकाल के बीत जाने पर और श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के देहावसान के पूर्व, संपन्न हुई थी। हेमचंद्राचार्य के कथनानुसार चंद्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर निर्वाण के १५५ वर्ष के बीत जाने पर, अर्थात् वी नि. सं. १५६ में संपन्न हुआ है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी का वी. नि.सं. १७० में देहावसान हुआ था। चंद्रगुप्त के राज्याभिषेक के वर्ष में ही अकाल पडा, ऐसा मान लेने पर भी वह वी.नि.सं. (१५६ + १२) १६८ में अंत हुआ, ऐसा गिना जाएगा। इसके अनुसार आगमपुरुन्थान के लिए संपन्न प्रथम वाचना और श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के पास स्थूलभद्रस्वामी से किया हुआ चतुर्दशपूर्वो का अध्ययन वी.नि.सं १६८ और १७० के बीच के दो वर्षों में पूर्ण होना निश्चित होता है। एकादश (ग्यारह) अगों के श्रुत के संकलन हेतु संपन्न वाचना कितने समय तक चली इस बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती, लेकिन हेमचंद्राचार्य के कथनानुसार, इस वाचना के बाद श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के पास स्थूलभद्रसूरि ने आठ वर्षो में आठ पूर्वों का अध्ययन पूर्ण किया। इसके पश्चात् इसी गणना के अनुसार आगे के दो पूर्वों का अध्ययन पूर्ण करने के लिए संभवतः दो वर्ष तो लगे होंगे। इसके बाद आगे के चार पूर्वो के पाठ मात्र का अध्ययन पूरा करने के लिए कम से कम दो वर्ष तो लगे होगे– ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार वाचना और स्थूलभद्रस्वामी के चतुर्दशपूर्वो का अध्ययन पूर्ण होने के लिए कम से कम १२ वर्ष तो लगे हैं और वह वी.नि.सं. (१६८ + १२) १८० को हुआ है ऐसी गणना होती है।

लेकिन इस आम्नाय के दृढ कथनानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु का वी.नि.सं. १७० में ही देहावसान होने से इनसे स्थूलभद्रस्वामी के चतुर्दशपूर्वो के अध्ययन करने की बात बिल्कुल असंगत लगती है। इतना ही नहीं बल्कि इस अकाल के समय में जीवित श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ही एक मात्र आगम को पूर्णरूप से स्मृति में धारण करने में किसी तरह समर्थ थे–

ऐसा समझना होगा। ऐसी स्थिति में सब ग्यारह अंगों को अविच्छिन्नरूप से स्मृति मे धारण किए हुए श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के उपदेश के माध्यम से ही पाटलीपुत्र में सम्मिलित साधु सघ प्राप्त कर सकता था। लेकिन वैसा न करके जिस–जिस साधु के स्मरण में जितना–जितना याद था उतना–उतना संकलन कर ग्यारह अगों का सकलन (आखिरकर) क्यों करना पडा – यह प्रश्न उठ सकता है। इसके अलावा इस प्रकार संकलन किया हुआ आगम पूर्ण और यथार्थ था – इसका निर्णय किस आधार पर किया गया – यह भी एक प्रश्न है। इस तरह आगम की इस प्रथम वाचना के सपन्न होने की बात प्रश्नार्ह होकर अविश्वसनीय हो जाती है।

इस संबध में अविश्वास बढाने वाली और भी एक बात है। श्वेतांबर आम्नाय के कथनानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भाई थे। इतना ही नहीं बल्कि वराहमिहिर मर कर व्यंतर देव बनकर संघ पर उपसर्ग करने के कारण श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने पार्श्वनाथ तीर्थकर के स्तोत्र (उपसर्गहर स्तोत्र) की रचना की थी। ज्योतिर्विद्या मे प्रख्यात वराहमिहिर वी.नि सं ४७० के बाद राजा विक्रमादित्य के समय में जीवित थे– ऐसा परंपरागत कथन है। और इससे पूर्व उनके जीवित होने का प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए जिन्हें वराहमिहिर का भाई कहा गया है वे श्रुतकेवली वी नि.सं ४७० के बाद जीवित थे– ऐसा समझना पडता है और इससे यह सिद्ध होता है कि प्रथम वाचना वी.नि. सं १६८ और १७० के आस पास नहीं हुई है। इस प्रकार प्रथम वाचना से संबधित श्वेतांबरों की बात और भी अधिक अविश्वसनीय हो जाती है।

श्वेतांबर आम्नाय के श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी की घटना की सत्यता पर सदेह करने वाली और भी एक बात है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के संबंध में दिगम्बर आम्नाय के ऐतिह्य पर भी यहाँ ध्यान देना होगा। इस ऐतिह्य के अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी वी.नि.सं १६१ के लगभग ससंघ उत्तरापथ को छोडकर दक्षिणापथ पहुँचे और वहाँ कळबप्पु (श्रवणबेलगोला का छोटा पहाड) पर वी.नि.सं. १६२ में समाधिमरण को प्राप्त हुए, ऐसा ठोस आधार है। इससे वी नि.सं १७० के आसपास

पाटलीपुत्र में सम्पन्न आगम की प्रथम वाचना के बाद स्थूलभद्रसूरि ने श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के पास चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन किया ऐसा श्वेतांबर आम्नाय का कथन सर्वथा असत्य प्रतीत होता है। इस प्रथम वाचना के सम्पन्न होने के बारे में श्वेतांबर पंथ के महान् विद्वान् मान्य कपाडिया जी ने भी संशय व्यक्त किया है। देवर्धिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न वाचना के बारे में कपाडिया जी ने कहा है– "जैन आगम का पुनरुत्थान करने के उद्देश्य से किए गए प्रयासों में (देवर्धिगणि के अध्यक्षता में जो हुआ) यह तीसरा है, लेकिन स्थूलभद्र जी की जीवित अवस्था में पाटलीपुत्र में साधु सम्मेलन हुआ ऐसा यदि हम स्वीकार करें तो यह (देवर्धिक्षमाश्रमण के नेतृत्व वाली वाचना) चौथा होगा।[१५]"

मान्य कपाडिया जी के इस कथन मे प्रथम वाचना के बारे में सशय होना स्पष्ट है। इन सब विचारों के अवलोकन से प्रथम वाचना की बात सत्यनिष्ठ न होकर कल्पित प्रतीत होती है।

### आगम की भाषा

श्वेताम्बर आगम इस समय 'अर्धमागधी आगम' के नाम से ही प्रसिद्ध है। पाश्चात्य विद्वानो द्वारा इस आगम साहित्य के बारे में अनुसंधान करने के बाद ही यह नाम प्रचार में आया। 'अर्धमागधी' प्राकृत भाषा की बोलियों में से एक है। जैन आम्नाय के अनुसार यह तीर्थकरों के उपदेश की भाषा है। महावीर तीर्थकर के उपदेश के आधार से गणधरों द्वारा रचित द्वादशाग श्रुतमूल से निष्पन्न सुरक्षित आगम के बारे में पीछे स्पष्ट कर आए है। इस आगम की भाषा की कुछ विशेषताएँ ईसा की १२वी शताब्दी मे श्वेताम्बर संप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्धहेमचन्द्र व्याकरण के ८वें अध्याय मे बताई हैं। इस व्याकरण में सामान्य (महाराष्ट्री?) प्राकृत की विशेषताओ का निरूपण करते हुए स्थान–स्थान पर 'बहुल' (अनियत) रूप से आगमभाषा के विशेष लक्षणों को कहा गया है। आगम की इस भाषा को इन्होने 'आर्ष' नाम दिया है। लेकिन एक सूत्र में (४/२८७) 'अर्धमागधी' नाम की उपयोगिता बताई है।

इस आर्ष लक्षण को २८ सूत्रों में बताया है। इनमें बताए गए लक्षणों के अलावा शेष सभी सामान्य प्राकृत के लक्षण इस आर्ष भाषा पर भी लागू होते हैं। इस प्रकार इन विशेष लक्षणों की वजह से आगम की भाषा सामान्य प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत और मागधी—प्राकृतों से भिन्न होकर आर्ष या 'अर्धमागधी' नामक प्राकृतभाषा की बोली (उपभाषा) ही है।

हेमचन्द्राचार्य द्वारा बताई गई आर्ष—अर्धमागधी क्या महावीर तीर्थंकर के उपदेश की ही भाषा है? यह विचारणीय है। सब तीर्थंकरों के उपदेश की भाषा को **'अर्धमागधी'** कहा गया है। महावीर तीर्थंकर के उपदेश की भाषा भी अर्धमागधी है,[१६] यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। तीर्थंकरों के उपदेश की यह अर्धमागधी 'समस्त आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु—पक्षी, सरीसृपों को अपने—अपने हित, शिव सुखसाधक भाषारूप से परिणमित होती है[१७]। सर्वभाषारूप परिणमित होने वाली इस भाषा को सर्वार्धमागधी[१८] आदि कहा गया है।'

इस तरह की कोई विशेषता इस समय उपलब्ध आगम ग्रथों की भाषा मे नहीं है, यह स्वतः स्पष्ट है। इसके अलावा तीर्थकरो के उपदेश के आधार पर गणधरों ने आगम की रचना की है इसलिए आगमो की भाषा गणधरों की भाषा हो सकती है न कि तीर्थकरो की अर्धमागधी भाषा। श्वेताम्बर आम्नाय के द्वादशांग श्रुत के रचयिता गणधर सुधर्म—स्वामी है, इसलिए इस श्रुतमूल के श्वेतांबर आगमग्रंथो की भाषा सुधर्मस्वामी की प्राकृत भाषा है— यह तर्कसम्मत है। लेकिन इस समय उपलब्ध आगम ग्रथो मे मौजूद सब उक्तियॉ सुधर्म स्वामी की उक्तियॉ है— यह तो नही कहा जा सकता और गुरु परम्परा से प्रवर्तित होकर आने के समय मे और वाचनाओं के संदर्भ में इन आगम ग्रथों की भाषा में अतर हुआ ही नहीं है— यह भी नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'तेण कालेण—२ सामी समोसढे जाव परिसा पडिगया तेण कालेणं — २ समणस्स भगवओ महावीरस्स ... .. '[१९] यह वाक्य सुधर्मस्वामी का हो सकता है, 'तेण कालेण'—२ तेणं समएणं अह गोयामा ... [२०], यह स्वय महावीर स्वामी का ही वचन होने पर भी भगवान ने ऐसा कहा, ऐसा सुधर्मस्वामी ने कहा है— यह

समझा जा सकता है। 'तेणं कालेणं–२ तेणं समएणं रायगिहे णगरे अज्जसुहामस्स समोसरणं परिसा णिग्गया जाव जबू पज्जू वासति एवं वयासी'[२१] यह कथन निश्चितरूप से सुधर्मस्वामी का न होकर आगम का सकलन करने वाले का है। इससे इस समय उपलब्ध आगम ग्रंथ एक कर्तृक नहीं कहे जा सकते। उपलब्ध आगम ग्रंथो में आचारागसूत्र अत्यत प्राचीन है ऐसी मान्यता है। लेकिन इसमे समाविष्ट दो श्रुतस्कन्ध विभागो मे पहला भाग दूसरे भाग से प्राचीनतर कहा गया है।[२१ए] इसके अनुसार, कालान्तर में प्रथम श्रुतस्कन्ध में दूसरा श्रुतस्कध मिलाया गया है – ऐसा समझना होगा। इस प्रकार की मिलावटो के कारण आगमग्रंथो मे एकरूपता दिखाई नही देती।

भरतमुनि ने राजपुत्रो के सेवक और श्रेष्ठियों की भाषा को अर्धमागधी कहा है। यह आगम की अर्धमागधी भाषा तो नहीं है, पर नाटकों की भाषा को लक्ष्यकर बताया हुआ होगा। इसके बारे में श्री अनंत बेनर्जी शास्त्री का कथन है –"यह सदिग्ध है कि भरत ने इस (अर्धमागधी) नाम का उपयोग किया होगा। अर्थात् यह बाद मे प्रक्षेपित किया गया लगता है। (Evolution of Magadhi)। इन आगम ग्रथो मे शौरसेनी और मागधियों का प्रभाव भी दिखाई देता है। आगमों की भाषा को तीर्थकरो की अर्धमागधी नही कहा जा सकता, यह पहले ही कह आए हैं। अब विशेषरूप से मागधी, शौरसेनियों के साथ अपनी कुछ विशेषताओ को लिये हुऐ, गणधर सुधर्मस्वामी आदि ऋषि (साधु) परंपरा मे सुरक्षित इस भाषा को, जैसा कि हेमचद्राचार्य ने कहा है 'आर्षभाषा' या श्वेताबर आगम की आर्ष प्राकृत भाषा कहना उचित है। इतने पर भी तीर्थकर के उपदेश की अर्धमागधी के आधार पर द्वादशाग श्रुत की रचना होने के कारण औपचारिक रूप से अर्धमागधी आगम कहा जा सकता है, लेकिन यह नाम मात्र श्वेताबर पथ के आगम पर लागू न होकर, दिगम्बर पथ के आगम पर भी लागू होगा–ऐसा निष्पक्षभाव के किसी भी विद्वान को मानना चाहिए।

## चाउज्जाम, सचेलक, अचेलक धर्म-एक परिशीलन

श्वेताबर व दिगंबर आम्नायो के बीच ऐतिहासिक तथा सैद्धान्तिक विचारों के सन्दर्भ मे कुछ प्रमुख बातो की समीक्षा करना आवश्यक है। आदि तीर्थंकर भगवान वृषभस्वामी और अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी के धर्मोपदेश का मार्ग और बीच के काल के तीर्थकर भगवान अजितनाथ से तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थकरो के धर्मोपदेश के मार्ग के बीच अन्तर था, यह बात श्वेताबर और दिगंबर दोनों आम्नायों मे कही गयी है। साथ ही इस अन्तर के कारणों को बताने में भी इन दोनो आम्नायो के बीच एकरूपता है, लेकिन धर्मोपदेश के मार्गो में जो अन्तर है उसके स्वरूप कथन में इन दोनों आम्नायो के बीच भिन्नता है।

दिगबर आम्नाय के अनुसार आदि तीर्थकर के समय के शिष्य दुर्विशोधन थे, इसी प्रकार अतिम तीर्थकर के समय के शिष्य दुरनुपालक थे। कारण इन तीर्थकरों के समय के शिष्य कल्पाकल्प अर्थात् आचार विधि की युक्तायुक्तता को नहीं जानते थे। इसी प्रकार ये चंचलचित्त व मोहितचित्त थे। इस कारण बार--बार बताने पर भी यथावत् न समझकर अतिचार दोष के भागी बनते थे। मध्यवर्ती समय के बाईस तीर्थकरो के काल के शिष्य दृढ (स्थिर) बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त, मोहित न होने वाले थे। इन्हे सर्व सावद्य दोष के परिहार (निवारण) करने वाले सामायिक--चारित्र का उपदेश दिया गया था। लेकिन इस सामायिक चारित्र का स्पष्टरूप से दूसरों को उपदेश देने के लिए, स्वतः उसका पालन करने के लिए, पृथक् कर समझने के लिए, विशदकर जानने के लिए, पचमहाव्रतों की विशदता वाले छेदोपस्थापना संयम का आदि और अतिम तीर्थकरो के समय के शिष्यों को उपदेश दिया गया। मध्यवर्ती समय के तीर्थकरो के शिष्यों को उनके आचरण के जिस व्रत के विषय मे जो कोई अतिचार लगता था उस विषय तक सीमित प्रतिक्रमण का आदेश था। लेकिन आदि और अतिम तीर्थकरों के शिष्यो को ईर्यागोचर स्वप्न आदि से उद्भूत अतिचार लगें या न भी लगे, सब प्रतिक्रमणो का नियम से आदेश हुआ।[22]

श्वेतांबर आम्नाय के अनुसार भगवान पार्श्वनाथ ने **'चाउज्जाम'** धर्म का उपदेश दिया था, भगवान वर्धमान ने **'पंच-सिक्खिओ'** – पंचव्रतों का उपदेश दिया था। इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ ने **'सचेलक'** धर्म का उपदेश दिया था जबकि भगवान वर्धमान ने **'अचेलक'** धर्म का।[२३]

प्रस्तुत संदर्भ में भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट धर्म, मध्यवर्ती समय के भगवान अजित आदि से भगवान पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म है, इसी प्रकार भ. वर्धमान द्वारा उपदिष्ट धर्म भगवान वृषभदेव तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट धर्म से अभिन्न हैं।[२४]

जैनधर्म के इतिहास–निरूपण में श्वेतांबर आम्नाय के उपरोक्त चाउज्जाम और पंचसिक्खिओ धर्म तथा सचेलक व अचेलक मुनि धर्म ऐतिहासिक वास्तविकता के ढंग से प्रस्तुत हुए हैं।[२५] लेकिन इस समान सन्दर्भ के, पूर्वोक्त, दिगंबर आम्नाय के सामायिकसंयम और छेदोपस्थापनासंयम व अनियतप्रतिक्रमण (अप्रतिक्रमण) और नियतप्रतिक्रमण (सप्रतिक्रमण) को जैनधर्म के इतिहास निरूपण में ऐतिहासिक दृष्टि से स्थान नहीं मिला है। दिगंबर आम्नाय का यह कथन क्या ऐतिहासिक दृष्टि से ध्यान देने योग्य नहीं है? यह प्रश्न सहज रूप से उठता है। इस प्रश्न को ध्यान में रखकर यहाँ इस पर विचार किया जाएगा।

जैसा कि पहले कह आए हैं – श्वेतांबर आम्नाय में पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने चाउज्जाम (चार नियमवाला) धर्म का उपदेश दिया और उस स्थान पर वर्धमान तीर्थंकर ने पंचसिक्खिओ धर्म का उपदेश दिया। लेकिन बौद्ध आगम ग्रंथों में निगंठनात पुत्त (वर्धमान) तीर्थंकर द्वारा बोधित चातुयाम संवर का उल्लेख हैं। इस सन्दर्भ में ऐसा कहा गया है कि – यह जो निगंठनातपुत्त से बोधित 'चातुयाम–सवर' है वह वास्तव में भ० पार्श्वनाथ का 'चाउज्जाम धर्म' ही है न कि निगंठनातपुत्त (वर्धमान) का। आगे चलकर यह कहा गया है कि निगंठनातपुत्त से बोधित 'पंचसिक्खिओ' का बौद्धों को परिचय ही नहीं था। इस कारण से भ० पार्श्वनाथ के चाउज्जाम धर्म को गलती से निगंठनातपुत्त द्वारा बोधित चातुयाम संवर बता दिया है।[२५]

बौद्ध आगम में[२६] निगंठनातपुत्त द्वारा बोधित वह 'चातुयाम संवर' इस प्रकार है–

**"इध महाराज निगंठो चातुयामसंवर संवुतो होति, कथं च, महाराज, निगंठो चातुयामसंवर संवुतो होति? इध, महाराज, निगंठो सब्बवारिवारितो च होति सब्बवारियुतो च सब्बवारिधुतो च सब्बवारिफुट्टो च एवं खो, महाराज निगंठो चातुयामसंवरसंवुतो होति, यतो खो, महाराज, निगंठो एवं चातुयामसंवरसंवुतो होति अयं वुच्चति (वुचो अति) महाराज, निगंठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो च।"**

पार्श्वनाथ तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट 'चाउज्जाम' और उपर्युल्लिखित बौद्ध आगम में कहे हुए 'चातुयाम' शब्दो का अर्थ चार संयम या निबंधन का व्रत है। पार्श्वनाथ तीर्थकर का चाउज्जाम, जैसा कि श्वेतांबर व्याख्याकारों ने कहा है, वह प्राणातिपातवेरमण, अदिन्नादानवेरमण, मुसावादवेरमण और बहिद्धादानवेरमण (हिंसाविरति, स्तेय विरति अर्थात् चौर्य विरति, असत्यविरति और परिग्रह विरति) ऐसे चार व्रतोंवाला धर्म है।[२७] ऊपर कहे हुए निगठनातपुत्त का धर्म चातुयाम सवर है, लेकिन इस चातुयामसंवर के अर्थ का विस्तार 'सब्बवारिवारितों होति' इत्यादि वाक्यो का अर्थ स्पष्ट नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने मज्झिमनिकाय के अर्थविवरण में 'निगंठ चार प्रकार के निरोध या संयमरूप के संवर अर्थात् आवरण से घिरा हुआ है, वह कैसा घिरा हुआ है? जैसा कि जल के बारे में संयमयुक्त हैं, या सब पापों का निरोधकों से अपने पापों को निरोध कर लिया है',[२८] इत्यादि कहा है। लेकिन इस अर्थ के अनुसार भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश के 'प्राणातिपातवेरमण' आदि चाउज्जाम धर्म का अर्थ नहीं झलकता – यह स्पष्ट है। फिर भी मान्य जाकोबी ने बौद्ध धर्म के इस चातुयाम में भगवान पार्श्वनाथ के चाउज्जाम की एकता देखी है।[२९] इस संबंध में मान्य नथमल टाटिया जी का यह कथन[३०] भी ध्यान देने योग्य है–

'प्रस्तुत संदर्भ में चातुयाम संवर की जो अर्थ व्याख्या दिघनिकाय के उदुंबरिकसुत्त में बतायी गयी है वह भी ध्यान देने योग्य है। यहॉ पर

आत्मनिग्रह के (तपस्या के) विभिन्न प्रकार और उनके पालन का सही सही मार्ग बताया गया है। चातुयामसंवर को तपस्या के एक प्रकार के रूप में बताया गया है और तेपोजिगुच्छ जैसे सांप्रदायिक तपस्या के मार्ग में रत निग्रोध परिव्वाजक (परिव्राजक) को स्पष्ट करने जैसे उस चातुयामसंवर का अर्थविशेष इस प्रकार कहा है:

'हे निग्रोध, चातुयामसंवर से तपस्वी सम्वृत्त (घिरा) होता है। निग्रोध !, किस प्रकार चातुयामसंवर से तपस्वी संवृत्त होता है? हे निग्रोध !, तपस्वी प्राणघात नहीं करता, प्राणघात नहीं कराता, प्राणघात करने वाले का अनुमोदन नहीं करता, (उसे) नहीं दिया हुआ वस्तु को नहीं लेता । नहीं दिया हुआ वस्तु को लेने नहीं देता, दी हुई वस्तु को लेने वाले का अनुमोदन नहीं करता, झूठ (गुस्सा) नहीं बोलता, झूठ नहीं बुलवाता, झूठ बोलने वाले का अनुमोदन नहीं करता, मन में उठने वाली अभिलाषा (भावित को) पाने की अपेक्षा नहीं करता मन में उठी अभिलाषा को पाने की अपेक्षा नहीं करने देता, मन में उठी अभिलाषा को पाने की अपेक्षा करने वाले का अनुमोदन नहीं करता। इस तरह चातुयामसंवर से तपस्वी संवृत होता है।'[३१]

उपरोक्त, जिसे निगंठनातपुत्त का कहा गया है ऐसा 'चातुयामसंवर' और निग्रोधपरिव्वाजक संबंधी 'चातुयामसंवर', ये दोनों सिर्फ नामसे एक जैसे लगते हैं, पर उनमें निहित विषयों के अर्थ विवरण में कुछ भी समानता नहीं है– यह स्पष्ट है। 'निगंठो सब्बवारिवारितों च होति' जैसे वाक्यों में आखिरकर 'तपस्सी न पाणं अतिपातेति' का अर्थ भला किस प्रकार देखा जा सकता है। इसी प्रकार निगंठनातपुत्त के उपदेश के अन्य वाक्य भी निग्रोधपरिव्वाजक के अन्य वाक्यो के साथ अर्थ की अपेक्षा से कुछ भी समानता न होना बिल्कुल स्पष्ट है। इतने पर भी जिसे निगंठनातपुत्त का कहा गया है ऐसे 'चातुयामसंवर' में पाणातिपातवेरमण (प्राणघात नहीं करना) अदिन्नादानवेरमण, मुसावादवेरमण और बहिद्धादानवेरमणों के अर्थ का आरोपण कर'[३२] 'इस चातुयामसंवर रूप व्रतधर्म को बौद्धों ने निगंठनातपुत्त का उपदेश कहा है। बौद्ध धर्म के अनुयायियों को प्रायः

इस व्रतधर्म के सही स्वरूप का पता नहीं था। चातुयामसंवर निश्चितरूप से निगंठनातपुत्त का न होकर उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट धर्म है। बौद्ध आगम में निरूपित चातुयामसंवर (श्वेतांबर) अर्धमागधी आगम में प्रतिपादित पार्श्वनाथ के चाउज्जामधर्म से भिन्न न होकर पार्श्वनाथ का ही है, यह संशयातीतरूप से प्रमाणित होता है। "प्रायः बुद्ध को निगंठनातपुत्त द्वारा नए तौर से प्रवर्तित पाँच शिक्षापदों की (अहिंसादि पाँच व्रतों की) जानकारी नहीं थी।"[३३] ऐसा मान्य नथमल टांटिया जी ने कहा है। यही अभिप्राय, मान्य हर्मन जाकोबी जी ने भी व्यक्त किया है।[३४]

मान्य नथमल टांटिया जी के विचारों के बारे मे एक प्रश्न उठता है– इन्होंने निग्रोधपरिव्राजक से संबंधित चातुयामसंवर के अर्थविवरण के आधार पर निगंठनातपुत्त के चातुयामसंवर के अर्थ को पहचाना है। इसके बाद यह निगंठनातपुत्त का चातुयामसंवर वास्तव में पार्श्वनाथ का चाउज्जाम धर्म है, ऐसा कहा है। आगे चलकर यह भी कहा है कि बौद्ध आगम ग्रंथो के रचयिता ने भ. पार्श्वनाथ के चाउज्जाम धर्म को ही अन्यथा समझकर निगंठनातपुत्त द्वारा बोधित धर्म कह दिया है। लेकिन निग्रोधपरिव्राजक से संबंधित चातुयामसंवर ही उसके अर्थ के साथ पार्श्वनाथ के चाउज्जाम और उसके व्याख्यायित अर्थ के साथ समन्वय रखता है। इसलिए पार्श्वनाथ के चाउज्जाम धर्म को ही गलती से बौद्ध आगम के रचयिताओं ने निग्रोध परिव्राजक का 'चातुयामसंवर' कह दिया है – ऐसा मान्य नथमल टांटिया जी ने आखिर क्यों नहीं कहा– यह सवाल बना ही रहता है। इसके अलावा श्वेतांबर आगम ग्रन्थों में यत्र तत्र बौद्ध आगम ग्रन्थों का प्रभाव देखने में आता है (जैन आंटिक्वेरि, डिसेंबर १९४३, एडिटोरियल नोट)। इस कारण से यह कह सकते हैं कि भ. पार्श्वनाथ का चाउज्जाम धर्म के अर्थ विवरण में ही निग्रोध परिव्राजक सम्बन्धी चातुयामसंवर के विवरण का प्रभाव रहे तो उसमें कोई विस्मय नहीं होगा। इसलिए इस दृष्टि से भी पार्श्वनाथ के 'चाउज्जाम' को बौद्ध आगम के रचयिताओं ने गलत जानकर निगंठनाथपुत्त का चातुयामसंवर कह दिया है यह विचार बिल्कुल ठीक नहीं है।

बौद्ध आगम के रचयिताओं को निग्रोधपरिव्राजक से संबंधित चातुयामसंवर का सही स्वरूप मालूम था यह स्वतः स्पष्ट है, फिर भी निगंठनातपुत्त से उपदिष्ट चातुयामसंवर के विवरण को निग्रोधपरिव्राजक का चातुयामसंवर का जो अर्थ विवरण है उसी तरह विवरण न करके बिल्कुल भिन्न प्रकार से याने (सब्बवारिवारितों च होति) इत्यादि रूप से विवरण क्यों किया है? यह प्रश्न सहज ही उठता है। इसके अलावा निगठनातपुत्त के द्वारा उपदिष्ट धर्म बुद्ध को समझ में नहीं आया था– यह समुचित आधाररहित कल्पना मात्र है। इसलिए निगंठनातपुत्त के चातुयामसंवर मे उसकी अपनी ही विशेषता है, ऐसे कह सकते हैं इस पर विचार किया जाना चाहिए।

'संवर' शब्द के रोकना, निरोधक, आवरण जैसे सामान्य अर्थ होने पर भी जैनधर्म का अपना ही परिभाषिक विशेष अर्थ भी है । निगंठनातपुत्त के धर्म के साथ स्वतंत्र लक्षण को बताने मे उसका ही विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ के साथ कहना चाहिए।

जैन धर्म में काय–वाक् (वचन) मन के कर्म (क्रिया) को योग कहकर उसी को 'आस्रव' कहा गया है। इसके शुभ और अशुभ रूप से पुण्य एवं पाप आस्रव रूप से भेद कहे गये है। आत्मा की शुद्धि के लिए और उसके बाद की सिद्धि (साधना) के लिए इन पुण्य और पाप दोनों के भी निरोध की आवश्यकता है। ऐसे दोनों पुण्य और पापास्रवों का निरोध करने वाला ही जैनधर्म का प्रमुख पारिभाषिक अर्थवाला संवर है।[36] जिसे निगंठनातपुत्त का चातुयामसंवर कहा है वह इस परिभाषिक अर्थवाला है यह तो तथ्य है।

ईसा की दूसरी या तीसरी सदी में पारम्परिकरूप से आये हुऐ आगम से संकलित 'मूलाचार' में मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग को आस्रवद्वार कहा गया है।[37] इनसे विपरीत दर्शन, विरमण, निग्रह और (योग) निरोध को आस्रव को रोकने वाले– अर्थात् संवर के साधन कहे गये हैं।[38] अतः जिसे निगंठनातपुत्त द्वारा उपदिष्ट चातुयामसंवर कहा गया है वह (सम्यक्) दर्शन, विरति–अर्थात् अहिंसादि पाँच व्रत, क्रोध आदि

कषायों का निग्रह और मन, वचन, काय–क्रियारूपी योगनिरोध– ये चार *यम (चातुयाम) अर्थात् धर्म के आचरण के नियमवाला है– यह ज्ञात होता है। इस अर्थ की अपेक्षा से निगंठनातपुत्त द्वारा उपदिष्ट, जिसका पीछे उल्लेख कर आए हैं, उस चातुयाम संवर का अर्थ इस प्रकार बताया जा सकता है:*

'निगंठ (निर्ग्रंथ) चातुयामसंवर से इस प्रकार संवृत हुआ है कि वह (निगंठ) दर्शन, विरति, निग्रह (और) योगनिरोधरूप इन सब निवारकों से मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय (और) योगों का निवारण कर पाता है, (इन) सब निवारकों से युक्त होता है, (इन) सब निवारकों से शुद्धि को प्राप्त होता है, सब निवारको से परिपूर्णता को भी प्राप्त करता है, इस प्रकार निगंठ चातुयामसवर से संवृत होने से प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है (गतत्तो), स्वाधीनतायुक्त होता है (यतत्तो), स्थिर होता है (ठितत्तो)।'

संवर के संबंध में जैनधर्म के विशेष अर्थ को संग्रहरूप से स्पष्ट करने वाला कुन्दकुन्दाचार्य का बारह अणुवेक्खा का कथन इस संदर्भ मे विशेष ध्यान देने योग्य है।[३६]

'चल, मलिन, अगाढ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन नामक मजबूत द्वार से मिथ्यात्व रूपी आस्रव का निरोध होता है ऐसा जिन (जिनेन्द्र भगवान) ने कहा है (गा. ६१)। पंचमहाव्रतों से निश्चितरूप से अविरमण का निरोध होता है, क्रोध आदि कषाय आस्रव के द्वार निष्कषायरूपी फलकों से निरोधित होते हैं, (गा. ६२) शुभयोग प्रवृत्ति अशुभयोग को रोकती है (संवरण करती है), शुभयोग का निरोध शुद्धयोग से होता है (गा. ६३) और शुद्धोपयोग से जीव को धर्म और शुक्ल ध्यान की सिद्धि होती है। इसलिए ध्यान को सवर का कारण समझकर निरंतर चिंतन करना चाहिए, इसलिए (गा ६४) (कर्म) बध के एकदेश गलन को जिनेन्द्र ने निर्जरा कहा है। यह भी समझना चाहिए कि जिस (शुद्धोपयोग) से संवरण होता है उसी से निर्जरा होती है'। (गा. ६६)

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म के विशेष अर्थ वाला 'चातुयामसंवर' निगंठनातपुत्त से ही उपदिष्ट है। इतना ही नहीं यह भी

सिद्‌ध होता है कि 'पार्श्वनाथ के चाउज्जाम धर्म को बौद्ध आगम ग्रंथ में निगंठनातपुत्त द्वारा उपदिष्ट धर्म है ऐसा गलती से कहा है' ऐसा मान्य हर्मन जाकोबी और मान्य नथमल टांटिया के अभिप्राय तथ्यरहित कल्पना मात्र है। निगंठनातपुत्त महावीर तीर्थंकर के उपदेश का यह 'चातुयामसंवर' आम तौर पर सब तीर्थंकरों के उपदेश का धर्म है।

इस संदर्भ में आगे उल्लिखित महापुराण में कथित तीर्थंकर वृषभ से निरूपित जो धर्मस्वरुप है, वह गमनीय है –

**भरतेनसमभ्यचं पृष्टोधर्म भाषत ।**
**धियते धारयत्युच्चै विनेयान्कुगतेस्ततः ।३०२।।**
**धर्म इत्युच्यच्यतेसद् भिश्चतुर्भे दसमाश्रितः ।**
**सभ्यग्दुक्ज्ञानचारित्रयपोरुपः कृपापरः ।३०३।।**
**जीवादिसप्तके तत्वे श्रद्धानं यत् स्वतोऽञ्जसा ।**
**परप्रणयनाद् वा तत् सम्याग्दर्शनमुच्यते ।।३०४।।**
**शङकादिदोषनिर्मुक्तं भावत्रयविवेंचितम् ।**
**तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिविवर्जनात् ।।३०५।।**
**यायात्मयेन परिज्ञांन सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् ।**
**यथा कर्मास्रिवो न स्याच्चरित्रं संयमस्तया ।।३०६।**
**निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तमो मृतम् ।**
**चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्ग हे तवः ।।३०७।।**
**निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् ।**
**चतुष्टयमिदं वर्त्म मुक्तेर्दुष्प्रापडः गिभिः ।।३०८।।**
**निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् ।**
**चतुष्टयमिदं वर्त्म मुक्तेदुष्प्रापमडः गिभिः ।।३०८।।**

*भरत ने उनकी पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा । तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे जो शिष्यो को कुगतिसे हटाकर उत्तम स्थान मे पहुँचा दे, सत् पुरूष उसे ही धर्म कहते है। उस धर्म के चार भेद है सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। यह धर्म कर्त्तव्य प्रधान है।। २८७–३०३।। अपने आप अथवा दूसरे के उपदेश से जीव आदि सात तत्त्वो मे जो यथार्थ श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है। ।।३०४।। यह सम्यग्दर्शन शका आदि दोषो से रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावों की अपेक्षा सम्यग्दर्शनके तीन भेद है। सशय, विपर्यय और*

*अनध्यवसाय का अभाव होने से जीवादि सात तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिससे कर्मों का आस्रव न हो उसे चारित्र अथवा सयम कहते है। ।।३०५—३०६।। जिससे कर्मों की निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है। ये चारो ही गुण यदि कषाय सहित हो तो स्वर्ग के कारण है और कषायरहित हो तो आत्मा का हित चाहने वाले लोगो को स्वर्ग और मोक्ष दोनो के कारण है। ये चारो ही मोक्ष के मार्ग हैं और प्राणियो को बडी कठिनाई से प्राप्त होते हैं।। ३०७—३०८।।*

श्वेतांबर आम्नाय के अनुसार पार्श्वनाथ तीर्थकर ने चाउज्जाम धर्म का उपदेश दिया यह हम पीछे कह आए हैं। व्याख्याकारो द्वारा बताए गए अर्थ के अनुसार इस चाउज्जाम धर्म मे प्राणातिपातवेरमण, अदिन्नादानवेरमण, मुसावादवेरमण और बहिद्धादानवेरमण (अपरिग्रह) चार व्रतों का समावेश हुआ है। और चौथे बहिद्धादानवेरमण में मेहुणविरति (मैथुनविरति—ब्रह्मचर्य) अन्तर्निहित था। श्वेताम्बर आम्नाय के इस चाउज्जाम में संवर शब्द का समावेश न होकर 'चाउज्जामो य जो धम्मो' इस कथनानुसार धम्म अर्थात् धर्मशब्द संयोजित हुआ है। इसके बावजूद मान्य नथमल टांटिया जी ने इस उपरोक्त अर्थ को निग्रोधपरिव्राजक से संबंधित 'चातुयामसवर' के अर्थ के समन्वय के साथ समर्पित करने का प्रयास किया है।[४०] आदितीर्थंकर और अतिम तीर्थकर के धर्मोपदेश और मध्यवर्ती काल के २२ तीर्थकरों के धर्मोपदेश के बीच के अतर के संकेत रूप पार्श्वनाथ तीर्थकर के उपदेश को चाउज्जाम कहा गया है। इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि पार्श्वनाथ तीर्थकर के पहले के तीर्थकर नेमि ने भी चाउज्जाम धर्म का ही उपदेश दिया था। लेकिन श्वेताबर आम्नाय नाया धम्मकहाओं' में अरंहत अरिट्ठनेमि का अन्तेवासी—शिष्य थावच्चापुत्त ने अनगार—अर्थात् मुनियों के आचार धर्मरूप से सव्वाओ पाणाइवायाओवेरमणं .. ........ ..... आदिपंचमहाव्रत को विस्तृत,रूप से कहे हैं।[४१] इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि नेमितीर्थकर ने चाउज्जामधर्म का उपदेश न देकर पच महाव्रतो का ही उपदेश दिया था। इससे यह प्रश्न उठता है कि ग्यारह अग वाले आगम के एक अंग नायाधम्मकहाओ का यह कथन और अगबाह्य आगम के उत्तराध्ययन के 'चाउज्जाम' के कथन – इन दोनों में कौन सा सही है? और कौन सा गलत है? वास्तव मे यह कहा जा सकता है कि चाउज्जाम के अर्थाख्यान (विश्लेषण) में ही त्रुटि हुई है।

पहले कहा गया है कि आज जो श्वेताम्बर आगम उपलब्ध है वह महावीर निर्वाण से ८२७ और ८३४ वर्षों के बीच प्रवर्तित माथुरी वाचना और वलभी वाचनाओं के आधार से देवर्धिगणि क्षमा श्रमणसूरि जी से महावीरनिर्वाण से ६८० या ६०३ वर्ष में संकलित होकर लिपिबद्ध किया गया है। इन आगम ग्रन्थों में मान्य श्री जाकोबी के कथनानुसार (जैन सूत्र, भाग–२, व्याख्या –पेज २४) यत्र तत्र बौद्ध आगमग्रन्थों का परिचायक उल्लेख देखने में आता है। इससे यह सूचना मिलती है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने चाउज्जाम् धर्म के अर्थ को बौद्ध आगम में निग्रोधपरिव्राज के नाम के साथ दिया हुआ जो चातुयामसंवर का अर्थ है, उसके आधार से ही निरूपण किया है।

यह 'चाउज्जाम' धर्म मौलिकरूप से जैन मुनियों के आचरणरूप चारित्रधर्म है, यह मान्य नथमल टांटिया द्वारा बताया हुआ 'संवरधर्म' नहीं है। पीछे कह आए हैं कि दिगंबर जैन आम्नाय के कथनानुसार मध्यवर्ती काल के अजित आदि पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था। इसका विश्लेषण इस प्रकार है।

**सम्मत्त-णाण-संजम-तवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं ।**
**समयं तं तु भणिदं तमेव सामायियं जाणे ।।५१६।।** [४२]

– सम्यग्दर्शन ज्ञान संयम तपस्या के साथ होने वाला प्रशस्त समगमन (आत्मा की प्रशस्त एकता) समय है उसी को सामायिक कहा गया है।

इस प्रकार के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम (चारित्र) और तप ऐसे चार निबंधन (यम) वाला ही सामायिक संयम है। यह सामायिक संयम ही मध्यवर्तीकाल के अजित आदि पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों का उपदेश है।[४३] इसलिए यह कहा जा सकता है पूर्वोक्त पार्श्वनाथ का चाउज्जाम धर्म यही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम, तप से चार यम वाला धर्म है।

यहाँ कहे हुए 'संयम' शब्द का अर्थ 'चारित्र' है । 'दशविधे धर्मे संयम उक्तः स–एव चारित्रमिति', 'तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामंतर्भावः।'[४४] इसके अनुसार उपरोक्त 'संयम' शब्द में पंचमहाव्रत

आदि आचार विधि अंतर्निहित है। बाईस तीर्थंकरों के काल के शिष्य ऋजुबुद्धि (स्वभाव) वाले, प्रज्ञाशील (विवेकी) थे, इसलिये इन चार यमों में अंतर्निहित आचार विधान को स्वय विश्लेषणकर, समझकर उसके अनुसार आचरण करते थे, जिस आचरण में दोष (अतिचार) लगता था उसे जानकर उसके लिए प्रतिक्रमण करते थे। संयम के अंतर्गत जिन पंच महाव्रतों का उल्लेख किया है, पहले के कथनानुसार उसका अरिष्टनेमि के शिष्य थावच्चापुत्त ने विश्लेषण करके स्पष्ट किया है, ऐसा सकेत मिलता है। वृषभ तीर्थंकर और महावीर तीर्थकर के काल के शिष्य मन्दबुद्धिवाले, जडमतिवाले होने से सामायिक चारित्र में अंतर्निहित 'संयम' (चारित्र) का विश्लेषण कर पंच महाव्रत के रूप में उपदेश दिया। यही छेदोपस्थापना चारित्र है। इसी को पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में[४५] सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षण सामायिकापेक्षया एकं व्रतं तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते', – सर्व पापों के निवृत्तिरूप सामायिक की अपेक्षा व्रत एक ही है, वही व्रत छेदोपस्थापना की अपेक्षा से (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे) पाँच भेद वाला है। श्वेतांबर आम्नाय मे कहा हुआ वर्धमान (महावीर) तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट 'पंचसिक्खिओ' भी यही है।[४६]

इस प्रसंग में महावीर तीर्थंकर के उपदेश की विशेषता को बताने वाली एक अन्य ग्रथ की उक्ति का उल्लेख करना उचित होगा :

**तिस्त्रः सत्तम गुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः**
**पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।**
**चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै -**
**राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान्नमामो वयं।।७।।**

***(दशभक्ति-चारित्रभक्ति)***

तन–मन–भाषा के निमित्त से उत्पन्न, अतीव शुभरूप कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति – ये तीन गुप्तियॉ, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान–निक्षेपण, उत्सर्ग ये पॉच समितियॉ, अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह– ये पॉच व्रत इस प्रकार इन (३+५+५) तेरह प्रकार के चारित्रों से युक्त महावीर जिनेन्द्र से उपदिष्ट तथा पूर्ववर्ती अन्य (अजित आदि पार्श्व

तीर्थंकर तक बाईस) तीर्थंकरों से उपदिष्ट ऐसे चारित्राचार को हम नमस्कार करते हैं।

उपर्युक्त आलोचना से दिगंम्बर जैन आम्नाय में सुरक्षित 'संवर' तत्त्व का और सामायिक चारित्र व छेदोपस्थापना चारित्र के प्रतिपादन से निगंठनातपुत्त द्वारा उपदिष्ट 'चातुयामसंवर' और श्वेतांबर आम्नाय का तथा पचसिक्खिओ का वास्तविक अर्थ तो स्पष्ट होता ही है साथ ही दिगंबर आम्नायागत इन बातों के ऐतिहासिक तथ्य का भी साक्षात्कार होता है।

श्वेतांबर आम्नाय में मुनिधर्म को अचेलक और सचेलक ऐसे दो प्रकार से कहा है। '[४७]चाउज्जाम और पंचसिक्खिओ के उपदेश जैसे ओढने और पहनने वस्त्रवाला सचेलक मुनिधर्म पार्श्वनाथ तीर्थकर के उपदेश का धर्म था और 'अचेलक' अर्थात् निर्वस्त्र मुनिधर्म महावीर तीर्थकर के उपदेश का धर्म है। इतना ही नही पार्श्वनाथ तीर्थंकर से उपदिष्ट जो सचेलक धर्म है, वह मध्यकालीन बाईस तीर्थंकरो (अजित आदि पार्श्वनाथ तीर्थकरो) के धर्मोपदेश से भी समन्वित है, और महावीर तीर्थकर के उपदेश का अचलेक धर्म वृषभ तीर्थकर के साथ समानता रखता है। पार्श्वनाथ तीर्थंकर के सचेलक धर्म के मुनि महावीर तीर्थकर के समय मे भी थे और अपने कुछ पहले के आचरणों का पालन करते रहे, विशेषरूप से महावीर तीर्थकर दबारा निषिद्ध परिव्राजकसचेलक धर्म में ही आगे बढे' ऐसा कहा गया है।[४८] इस बारे में ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा की जानी चाहिए।

गौतमबुद्ध बोधिसम्पन्न होने से पहले अपने द्वारा पालन किए हुए तप का विवरण उन्ही के कथनानुसार बौद्ध आगमग्रथों में सुरक्षित है :– (मज्झिमनिकाय महासीहनाद् सुत्त – १२, श्री धर्मानन्द कोसाम्बी की 'गौतमबुद्ध' श्री आद्य रंगाचार्य का कन्नडानुवाद पृ० ७५– ७७ तक से उद्धृत ) 'भगवान बुद्ध सारिपुत्त से कहता है : हे सारिपुत्त मुझे याद है कि मैं चार प्रकार का तप करता था। मैं तपस्वी बना, रूक्ष बना, जिगुप्सी बना, पवित्त बना ।

**तपस्विता** – मैं नग्न रहता था, लौकिक व्यवहार का पालन नहीं करता था, पाणिपात्र होकर भिक्षा ग्रहण करता था, 'भदन्त आइए' किसी के इन शब्दों पर ध्यान नहीं देता था, जहाँ मैं बैठा रहता था उस स्थान पर लाकर दिया हुआ आहार, मेरे लिये बनाया हुआ (उद्दिष्ट) आहार स्वीकार नहीं करता था। किसी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता था। जिस पात्र में पकाया हो, उसी पात्र में लाकर दिया हुआ आहार नहीं लेता था, ड्योड़ी या खिडकी के परे खडे होकर दी हुई भिक्षा नहीं लेता था, – गर्भिणी स्त्री, शिशु को स्तनपान कराती स्त्री, पति के साथ एकांत मे स्थित स्त्री द्वारा दी हुई भिक्षा ग्रहण नहीं करता था, मेलो हाटों में बनाया हुआ आहार नहीं छूता था, जहाँ पर कुत्ता खडा हो, मक्खियॉ भिनभिना रही हो – भिक्षा नहीं लेता था, मछली–मांस शराब आदि नहीं लेता था मांड नहीं पीता था। एक ही घर में भिक्षा माँगकर एक ही कौर (ग्रास) आहार से गुजारा करता था, अथवा दो घरों से भिक्षा मॉग कर दो ग्रास खाकर रह जाता था, इस प्रकार सात दिनों तक बढाता हुआ सात घरों की भिक्षा से सात ग्रास खाकर रह जाता था। (शायद यह अनुवाद गलत हुआ हो, 'मै एक घर, दो घर, इस प्रकार सात घरों को जाकर उनमें से किसी एक में प्राप्त आहार को लेता था' इस प्रकार नियम कर भिक्षाटन करने का अर्थ सही लगता है। यह एकागारिको वा होमि एकालोपिको, द्वागरिको वा होर्मि द्वालोपिको सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको का तात्पर्य है। इसे तत्त्वार्थसूत्र (९/१९) मे वृत्तिपरिसंख्यान कहा है। इसका विस्तार तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में देखा जा सकता है।)

एक मुठ्ठी भर ही आहार लेता था, इस प्रकार सात दिनों तक बढ़ाता हुआ सात मुठ्ठी भर आहार लेकर गुजारा करता था, इस तरह एक दिन आहार ग्रहण करता था, दो दिन छोड़कर फिर एक दिन आहार लेकर गुजारा करता था, इस प्रकार उपवास की विधि बढाता हुआ सात दिन या पंन्द्रह दिन छोडकर एक दिन आहार करता था। दाढी मूँछ और सिर के बाल उखाड लेता था, (केशलोंच कर लेता था) खडा होकर (खड्गासन) ही तप करता था। पॉवो के बल पर बैठकर (ध्यान) करता था।

**रूक्षता :** हे सारिपुत्त, मेरी रूक्षता कैसी थी, सो कहता हूँ। कई वर्षों का धूल मेरे शरीर पर जमता था, लेकिन इस मैल को मैं स्वयं या कोई अन्य व्यक्ति के हाथों से हटाने की इच्छा मुझे नहीं होती थी, ऐसी थी मेरी रूक्षता।

**जुगुप्सा :**अब मेरी जुगुप्सा कैसी थी सो कहता हूँ : मै अधिक सावधानी से (जागरुकता से) चलता था, जल की बूँद पर भी मैं अतीव दयालु था, प्रतिकूल परिस्थिति में पड़े क्षुद्र प्राणी का नाश मेरे हाथों से न हो इस तरह मैं बहुत जागरूक रहता था। ऐसी थी मेरी जुगुप्सा।

गौतमबुद्ध के अपने तपस्याचरण के समय में आचरित और भी एक बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। (पूज्य आचार्य विद्यानन्द महामुनि जी की 'विश्वधर्म की रूपरेखा' पृ०३४ का उल्लेखः)

**'सो तत्तो सीनो एको भिसनके वने ।**
**नग्नो न च आर्गी असीनो एकनापसुतो मुनोति ।।**

**अर्थ :** इस तरह कभी गर्मी, कभी ठंडक को सहता हुआ भयानक वन में नग्न (नंगा) रहता था। मैं आग से तापता नहीं था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

बुद्ध की तपस्या का यह सब पूर्वोक्त कथन पूर्णरूप से दिगंबर जैन मुनियों के आचरण का प्रतिबिम्ब है।

उपलब्ध बौद्ध और जैन साहित्य के आधार से निश्चित रुप से यह कहा जा सकता है कि बुद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तीर्थकाल के थे। महावीर तीर्थंकर का निर्वाण उनकी ७२ वर्ष की आयु में हुआ यह तो सुविदित है, इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने अपनी पूर्ण ८० वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया इसके लिऐ समर्थ प्रमाण है । इसके अलावा बुद्ध से कम से कम २ वर्ष पूर्व तो महावीर का निर्वाण हुआ ऐसा अनुसंधानकार विद्वानों का अभिप्राय है। इसके अनुसार महावीर तीर्थंकर के निर्वाण के समय गौतम बुद्ध की आयु (८०–२) = ७८ वर्ष की थी। इस गणना के

अनुसार यह मालूम होता है कि तीर्थंकर महावीर गौतम बुद्ध से ७८–७२ = ६ वर्ष छोटे थे। गौतम बुद्ध ने अपनी ३५ वर्ष की उम्र में धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, और इस समय तीर्थंकर महावीर की आयु ३५–६ = २९ वर्ष थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस समय गौतम बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया उस समय महावीर तीर्थंकर के धर्म तीर्थ प्रवर्तन की बात तो दूर रही, उन्होंने तब तक दीक्षा भी नही ली थी। इसके अनुसार यह सिद्ध होता है कि गौतम बुद्ध द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्तन पार्श्वनाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में हुआ था। इस कारण से बोधि प्राप्त होने से पूर्व गौतम बुद्ध ने जिस तपस्या के आचरण की बात कही है, वह नग्न (दिगंबर) मुनि के आचारधर्म से सम्बंधित था, यह स्पष्ट होता है। यह तपस्या पार्श्वनाथ तीर्थंकर के उपदेश पर आधारित थी। इस बारे में अब कोई शंका नही रह जाती। यह दिगंबर जैन संप्रदाय अनुश्रुति से भी प्रमाणित होता है।

देवसेन आचार्य ने अपने दर्शनसार में वृषभतीर्थंकर, पार्श्वतीर्थंकर और महावीर तीर्थकर के समयों में प्रवर्तित मिथ्यादर्शन या जैनाभासों के बारे में उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों के कथनों के आधार पर कहा है, श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में प्रवर्तित मिथ्यादर्शन (मत) के बारे मे उन्होनें कहा है [४९] – 'श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के तीर्थ (काल) में सरयू नदी के तट पर स्थित पलाश् नगर में विहार करने वाला, पिहितास्रव (मुनि) का शिष्य, महाक्षुत बुद्ध नाम से प्रसिद्ध मुनि ने मरी हुई मछली के मॉस को निर्दोष जानकर खाया और पहले धारण की हुई (प्रवज्या) साधुचर्या से भ्रष्ट हुआ (नग्नरुप त्यागकर)। रक्तांबर – लाल रंग का वस्त्र धारण किया और एकान्तवादी बौद्ध–मत की स्थापना की। [५०]

स्वयं गौतम बुद्ध के वक्तव्य से और दिगंबर जैन परंपरा के आधारवाले देवसेन आचार्य के कथन से पार्श्वनाथ तीर्थकर के तीर्थ समय में गौतम बुद्ध अपनी तपस्या के आचरण के समय दिगंबर मुनि बने थे, यह निस्संशयरुप से व्यक्त होता है। इससे 'मध्यवर्ती समय के अजित तीर्थंकर से लेकर पार्श्वनाथ तीर्थकर तक के सब तीर्थंकरों ने मुनियों के

लिए सचेलक (वस्त्र के उपयोग का) आचारधर्म का उपदेश दिया था' यह श्वेतांबर आम्नाय का कथन बिल्कुल तथ्य रहित कल्पना है और यह भी सिद्ध होता है कि उन सब तीर्थंकरों ने दिगंबर मुनिधर्म का ही उपदेश दिया था। यह कहने कि आवश्यकता नहीं है कि सब तीर्थंकर स्वतः दिगंबर तपस्वी थे। प्राचीन काल की सब तीर्थंकरों की मूर्तियॉ दिगंबर रुप में ही है, न कि सवस्त्र रुप में। इससे भी यह पुष्टि होती है कि आदि और अंतिम तीर्थकरों के जैसे ही मध्यवर्ती काल के तीर्थंकर भी दिगंबर तपस्वी थे।

'तीर्थकर महावीर के तीर्थ समय में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के सचेलक मुनि भी थे' यह बताने के लिए विद्वानों ने बौद्ध आगम मे कही गई 'एक साटिक' अर्थात् एक वस्त्रधारी मुनियों की बात को प्रमाण के रुप में प्रस्तुत किया है।[50A] लेकिन महावीर तीर्थंकर के अनुशासन के मुनिसंघ में रहने वाले 'एकसाटिक' श्वेतांबरो से कहे हुए सचेलक मुनियों का सूचन होना कोई जरुरी नहीं हैः दिगबर आम्नाय के अनुसार श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) श्रावक (ग्यारहवीं) प्रतिमाधारी एकमात्र कौपीनधारी ऐलक, मुनिसंघ में रहना चाहिए यह नियम है। इन ऐलकों को ही बौद्ध आगम में 'एक साटिक' कहा है, ऐसा समझा जा सकता है। इससे बौद्ध आगम के 'एक साटिक' शब्द के आधार से महावीर तीर्थंकर के अनुशासन के मुनिसंघ में पार्श्वनाथ तीर्थकर की परम्परा के सचेलक मुनि भी शामिल थे, ऐसा कहना सही नहीं होगा। साथ ही इसके माध्यम से पार्श्वनाथ तीर्थंकर के और उसके पहले के इक्कीस तीर्थंकरों के अनुशासन के मुनि सचेलक थे ऐसा कहना बिल्कुल सत्यनिष्ठ नहीं होगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि श्वेतांबर आम्नाय में जो सचेलक मुनिधर्म का निरूपण है, वह श्वेतांबर मुनियों से अंगीकृत सचेलकत्व के समर्थन में की गई कल्पना मात्र है।

## जिनकल्प और स्थविरकल्प

श्वेतांबर आम्नाय में अचेलक मुनियों को जिनकल्पी और सचेलक मुनियों को स्थविरकल्पी कहा गया है।[५१] यह दोनों कल्प–आचार की

मुनिपरंपरा जम्बूस्वामी के काल तक उसी प्रकार चलती रही पर जम्बूस्वामी के बाद लुप्त हुई दस वस्तुओं में जिनकल्प भी एक कहा गया है।[५२] लेकिन स्थूलभद्रस्वामी के दो प्रमुख शिष्यों में से ज्येष्ठ महागिरिसूरि द्वारा जिनकल्पी आचार का फिर से पालन करना विशेष बात को सूचित करता है। दिगंबर आम्नाय के कथनानुसार उत्तरभारत में पडे अकाल के कारण श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ससंघ दक्षिणापथ आए। इस संघ के साथ न आ सकने वाले मुनियो के संघ उत्तर भारत में ही रह गए और अकाल के कारण इन संघों (गणों) के मुनि आचारनिष्ठ न होते हुए वस्त्र धारण इत्यादि (शिथिल) आचरणों का पालन करने लगे। दक्षिण भारत जो मुनिसंघ आया था वह अकाल बीत जाने पर उत्तर भारत को लौटा, पर वहाँ जो मुनि बसे थे उनमें आरूढ आचार संबंधी विपरीतता को देख कर फिर से उन्हें मूल आचरण का पालन करने को कहा। लेकिन उन मुनियों में से कुछ ने तो मूल आचरण का पालन किया, परन्तु दूसरों ने जिनकल्प स्थविरकल्प नामक दो भेद कर 'अर्धगप्पडद तीर्थम नेगल्विदर'[५३] अर्थात् अर्धफालकतीर्थ का प्रवर्तन किया।

इस प्रकार बनी जिनकल्प शाखा श्वेतांबर पंथ की ही एक शाखा थी, न कि वही दिगंबर पथ था ऐसा समझना चाहिए।

हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट पर्व के कथनानुसार स्थूलभद्रसूरि के दो प्रमुख शिष्यों में से ज्येष्ठ महागिरिसूरि ने अपने से छोटे सुहस्तिसूरि को मुनियों में शिथिलाचार उत्पन्न होने मे कारण जानकर उनकी भर्त्सना की। इसके अलावा यह भी ज्ञात होता है कि स्थविरकल्प की मुनि शाखा को सुहस्तिसूरि का नेतृत्व प्राप्त था। इसके अुनसार यह समझ सकते हैं कि श्वेतांबर पंथ के जिनकल्प और स्थविरकल्प स्थूलभद्रसूरि के 'जीवन के अन्तिम समय उदित हुए और उनके शिष्य महागिरिसूरि और सुहस्तिसूरि के नेतृत्व में स्थाईरूप से स्थित होकर आगे परिवर्धित (विकसित) हुए। यह भी पता चलता है कि समय बीतने पर इन दोनों शाखाओं के बीच 'हम श्रेष्ठ, हम श्रेष्ठ' ऐसा विवाद उत्पन्न हुआ और उसको शान्त करने का प्रयत्न भी किया गया है।[५४] श्वेतांबर आम्नाय में प्रवर्तित ये सचेलक और अचेलक शब्द पहले से प्रचलित स्थविरकल्प और जिनकल्प शब्दो के

साथ समन्वित हुए और आगे चलकर जिनकल्पी (अचेलक) पंथ से स्थविरकल्पी (सचेलक) पंथ अधिक प्रचार पाकर प्रभावशाली बना।

दिगंबर आम्नाय में भी मुनियों को जिनकल्पी और स्थविरकल्पी ऐसे दो प्रकार से कहा गया है लेकिन अचेलक और सचेलक अर्थ में नहीं। 'अचेलक' शब्द में 'नग्न' अर्थ निहित है, फिर भी वह दिगंबर पंथ के अनुरूप मुनि का सूचक न होकर श्वेतांबरपंथ के आम्नाय के अनुसरण करने वाले मुनि का सूचक है। दिगंबर आम्नाय के अनुसार सम्यक्त्व के साथ अट्ठाईस मूलगुणों को धारणकर उनके पालन करने वाले सब साधारण मुनि भी स्थविरकल्पी मुनि कहलाते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन अटठाईस मूलगुणों में यथाजातरूप–नग्न–दिगंबर होना भी शामिल है। जिनकल्पी आचरण में यह स्थविरकल्प भी निहित हैं, 'इति स्थविरकल्पोऽयं जिनकल्पेऽपि योजितः'' (महापुराण – २०/१७०) मन:पर्ययज्ञान के धारी गणधर, और छद्मस्थ अर्हतों के चरित्र को (गणधारादि चरित्र, छद्मस्थानामर्हतां चरित्रं जिनकल्पः) जिनकल्प कहा है।[५५] तीर्थंकर बननेवाले मुनि दीक्षा ग्रहण करते समय ही मनःपर्ययज्ञान के धारक बनते हैं– यह इस प्रसंग में देखा जा सकता है।

# दिगंबर आम्नाय का आगम

**अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।**
**सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।।१।।**
**सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण।**
**णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो।।२।।**

लोक आदि—अंत रहित है, जीव आदि—अन्त रहित है ससार आदि—अन्त रहित है, मोक्ष आदि—अन्त रहित है और मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाला श्रुत आदि—अन्त रहित है। यह श्रुत समय—समय पर सर्वज्ञ—केवलज्ञान सम्पन्न तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि द्वारा अर्थरूप में प्रकट होता है इस परमागम श्रुत का अवधारण करने वाले गणधरो से द्वादशांग रूप में रचित द्रव्यश्रुत आगम परमर्षि—महर्षियों की अनुबद्ध परम्परा मे प्रवर्तित हुआ है।

वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों मे अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने इस समय प्रवर्तित अवसर्पिणी युग का चतुर्थ काल अंत होने में करीब ७५ वर्ष शेष रहते[५६] वैशाली राज्य के कुण्डपुर के अधिनायक सिद्धार्थ व प्रियकारिणी त्रिशला देवी का पुत्र बनकर चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन पृथ्वी को अपार आनन्द प्रदान करते हुए जन्म लिया।[५७] विवाह बंधन में न पड़ कर अपनी ३० वर्ष की आयु में वैराग्य धारणकर मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की दशमी के दिन यथाजातरूप (दिगंबर) वेश धारणकर मुनिदीक्षा ली। इसके बाद १२ वर्ष (५ मास १५ दिन) की तपस्या के पश्चात् वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान की दिव्यध्वनि के प्रथम आविर्भाव के समय उस दिव्यध्वनि का श्रवणकर मुनिदीक्षा ग्रहण करने हेतु सौभाग्यवान् व्यक्ति की आवश्यकता थी। श्रावण मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन (केवलज्ञान की प्राप्ति के दिन से ६६ वें दिन) उस सौभाग्य प्राप्त इन्द्रभूति गौतम स्वामी ने भगवान के सम्मुख आकर भक्तिभाव से नमस्कार करके संयम (मुनिदीक्षा) धारण किया।[५८] तब दिव्यध्वनि

खिरी। यह भगवान की तीर्थोत्पत्ति का महान् दिन है। इस मास को वर्ष का प्रथम मास गिना गया है व दिव्यध्वनि खिरने वाले इस दिन को 'युगादि' के रूप में गिना गया है।[५९] दिव्यध्वनि के श्रवणानंतर इन्द्रभूति गौतम ने भाव–श्रुतरुप परिणत होकर १२ अंग – १४ पूर्व ग्रंथों की रचना क्रमशः एक ही अन्तर्मुहूर्त में की। इस प्रकार तीर्थंकर भाव–श्रुत और अर्थपदों के कर्त्ता है। तीर्थंकर के निमित्त से गौतमस्वामी ने भावश्रुतरूप परिणत हो द्रव्यश्रुत के कर्त्ता बन ग्रंथ रचना की।[६०] इस प्रकार श्रुत–ऋद्धि सम्पन्न गौतमस्वामी प्रथम गणधर बने।[६१] इसके बाद श्रुतज्ञानसम्पन्न वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मंद, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अचेल और प्रभास गणधर बने।[६२] भगवान महावीर तीर्थंकर के अर्थकर्त्तृत्व के आधार से प्रकाश प्राप्त श्रुत आगम को प्रमुखरूप से दो प्रकार से कहा गया है। १. अंगप्रविष्ट २. अंगबाह्य। दिगंबर आम्नाय में स्वीकृत अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के भेद निम्न प्रकार हैं।

**अंगप्रविष्ट श्रुत :**

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथा अंग, उपासकाध्ययनांग , प्रश्नव्याकरणांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये द्वादश (बारह) अंग हैं। बारहवें दृष्टिवादांग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पॉच भाग हैं। इनमें से प्रथम परिकर्म में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, और व्याख्याप्रज्ञप्ति–इस तरह पॉच भेद है; चौथे पूर्वगत के फिर उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्याआत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानवादपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व, लोकबिन्दुसारपूर्व–इस प्रकार चौदह भेद हैं। इसलिए पूर्वगत को साधारण रूप से 'चतुर्दशपूर्व' कहा जाता है। सिद्धान्त में इनकी प्रमुखता के कारण समस्त द्वादशांग श्रुतधारकों को चतुर्दशपूर्वी और 'द्वादशांगचतुर्दशपूर्वी' इस प्रकार संबोधित करने की परम्परा है। चतुर्दशपूर्व के क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १०, १० वस्तु नामक अधिकार हैं। फिर इस प्रत्येक वस्तु अधिकार के

पाहुड नामक बीस—बीस प्रभेद हैं। इस प्रकार (१९५ वस्तु x२० पाहुड) ३९०० पाहुड होते हैं।[६३] चूलिका के जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता – ये पाँच भेद हैं।

**अंगबाह्य श्रुत :**

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, अशीतिका इस प्रकार अंगबाह्य श्रुत के चौदह भेद हैं। इन्हें प्रकीर्णक [६४] भी कहा गया है।

तीर्थंकर भगवान महावीर २९ वर्ष ६ माह तक देश के विभिन्न भागों में श्रीविहार कर धर्मोपदेश दे पावापुर आ वहाँ मनोहर वन के बीच अनेक सरोवरों के बीच में स्थित मणिशिला प्रदेश में दो दिन तक विहार रोककर चतुर्थकाल समाप्त होने में ३ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष रहते[६५] कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी रात्रि के अंतिम प्रहर में (प्रातः) स्वाति नक्षत्र में निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध बने। इसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान प्राप्त कर कुछ समय तक विहार कर निर्वाण को प्राप्त हुए और इसी दिन जम्बूस्वामी केवलज्ञान प्राप्त कर कुछ समय तक विहार कर निर्वाण को प्राप्त हुए। जम्बूस्वामी के निर्वाण की प्राप्ति के साथ हमारे इस भरत क्षेत्र में केवलज्ञान के धारकों का समय समाप्त हुआ।[६६]

षट्खण्डागम की टीका—धवला में श्रुत आगम प्रवर्तक ऋषि परम्परा को इस प्रकार कहा गया है: जैसा कि पहले कह आए हैं, द्वादशांग श्रुतग्रंथ रचनाकार गौतम गणधर से भाव और द्रव्य दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहार्य (गणधर सुधर्म) को प्राप्त हुआ। उनसे जम्बूस्वामी को प्राप्त हुआ। परिपाटी (परम्परा) अनुसार कहना चाहें तो ये तीन ही सम्पूर्ण श्रुत के धारक कहे गए हैं। परिपाटी क्रम रहित कहना चाहें तो संख्यात सहस्र सम्पूर्ण श्रुत के धारक हुए हैं। गौतम स्थविर (गणधर), लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीन भी सप्तविधलब्धिसम्पन्न सम्पूर्ण श्रुतसागर पारंगत हो

केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। उसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु– ये पाँच भी परिपाटी क्रम से चौदह पूर्वों के धारक बने। फिर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थ स्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बद्धिधिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन– ये ग्यारह महापुरुष ही परिपाटी क्रम से ग्यारह अंग और उत्पाद पूर्व आदि दस पूर्वों के पारगत और उपरोक्त चार पूर्वों का एकदेश (अर्थात भागशः) ज्ञानधारक हुए। उसके बाद परम्परानुक्रम से नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य नामक पॉच पूर्ण–एकादशांग धारक, चतुर्दश पूर्वों के एकदेशज्ञान के धारक बने। तत्पश्चात् परिपाटी क्रम से सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य नाम के चार सम्पूर्ण आचारांग के धारक और शेष सब अंगों और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। फिर सब अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्यों की परम्परा से आते हुए धरसेन को प्राप्त हुआ।

अष्टांग महानिमित्तज्ञ प्रवचनवत्सल धरसेनाचार्य सौराष्ट्र देश के गिरिनगर शहर के निकटवर्ती चन्द्रगुहा में थे। आचार्य धरसेन ने भविष्य में श्रुत ग्रंथों के विच्छेद होने के भय से महिमानगरी में सम्मिलित–दक्षिणापथ के आचार्यों के पास लेख भेजा। धरसेनाचार्य के लेख–स्थित वचन को ग्रहण कर उन आचार्यो ने ग्रहण–धारण में समर्थ दो साधुओं को आंध्र प्रदेश के वेणा तटाक से भेजा। जब वे आ रहे थे तब रात के अंतिम भाग में, कुन्द–चन्द्र–शंख (की तरह शुभ्र) वर्ण के सब लक्षणों से पूर्ण, अपनी (धरसेन की) तीन प्रदक्षिणा कर विनम्रता से झुके शरीरवाले, पादों को नमस्कार करते हुए दो वृषभों को धरसेन ने स्वप्न में देखा और संतुष्ट होकर धरसेन आचार्य ने 'जयउ सुयदेवदा' कहा। उसी दिन वे दो (साधु) धरसेनाचार्य के पास आए और पादवंदनादि कृति कर्म कर दो दिन व्यतीत होने पर तीसरे दिन विनयपूर्वक कहा– 'हम दोनों इस प्रकार के कार्य के निमित्त आपके पादमूल में आए हैं।'

'सुष्ठु भद्रं' कहकर धरसेनाचार्य ने उन्हें आश्वस्त किया। इसके उपरान्त स्व–इच्छानुसार–आचरणवाले को विद्यादान करना अनुचित होगा–

ऐसा सोचकर शुभस्वप्न के दर्शन से ही आए हुए उन साधुओं के (शुद्ध) अंतरंग को जानते हुए भी धरसेन स्वामी ने उनकी परीक्षा लेने का निर्णय किया। 'उत्तम परीक्षा के साथ किया गया कार्य सन्तोषप्रद होगा' ऐसा विचार कर धरसेन गुरू ने उन्हें दो मन्त्र विद्यायाएँ दीं। उनमें से एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन (कम) अक्षरवाली थी। धरसेन ने उन शिष्यों से षष्ठभक्त (दो दिनों का) उपवासपूर्वक उन विद्याओं की साधना करने को कहा।

दोनों शिष्यों ने विद्याओं की साधना से प्राप्त देवताओ को देखा तो पाया कि उनमें एक देवता के दॉत आगे निकल आए थे और दूसरे की एक ही ऑख थी। 'ये देवताओं के सहज लक्षण नहीं हैं' ऐसा सोचकर मन्त्र व्याकरणशास्त्र के वेत्ता उन्होंने अक्षरों को घटा–बढा कर मंत्र विद्याओं को क्रमबद्ध कर पठन करने पर पाया कि देवता अपने स्वाभाविक रूप मे प्रकट हुये हैं। उसके बाद घटित घटना को यथावत् विनयपूर्वक धरसेन गुरू को निवेदित करने पर सतुष्ट होकर उन्होंने सौम्य तिथि नक्षत्र के दिन ग्रंथ का पाठ (अध्यापन) शुरू किया। उसके पश्चात् क्रमशः व्याख्यान कर आषाढ मास के शुक्ल पक्ष एकादशी के पूर्वाह्न में ग्रंथ समाप्त किया। विनयपर्वूक ग्रंथ की समाप्ति से सन्तुष्ट हो (व्यंतर जाति के) भूत देवताओं ने उनमें से एक को पुष्प, बलि (अर्ध्य) और शंख तूर्य आदि से सकुलित नाद (ध्वनि) से महती पूजा की। उसे देख गुरू धरसेन ने उस साधु को 'भूतबलि' नाम दिया। इसी प्रकार दूसरे साधु की भी देवताओं ने पूजा की और उनके अस्त–व्यस्त दांतों को भूतो ने समान कर दिया, इससे उस साधु को धरसेन ने पुष्पदंत नाम दिया। उसके पश्चात् उन साधुओं को प्रयाण करने के लिए गुरू द्वारा आदेश दिए जाने पर 'गुरू का वचन अनुल्लंघ्य है' ऐसा जानकर वहॉ से चलकर, अंकुलेश्वर पहुँचकर उन्होंने वर्षाकाल बिताया। वर्षाकाल समाप्त करने के बाद जिनपालित से मिलकर (उसके साथ) पुष्पदन्ताचार्य वनवासी देश चले गए और भूतबलि भटार दमिलदेश चले गए। फिर पुष्पदंत आचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर विंशतिप्ररूपणा वाली सत्प्ररूपणा सूत्रों की रचना की और उनका पठन कराकर भूतबलि आचार्य के पास भिजवा

दिया। भूतबलि आचार्य ने जिनपालित के पास विशंतिसूत्रों को देख पुष्पदंताचार्य अल्पायु है ऐसा समझकर, महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) नष्ट हो जायगा ऐसा सोचकर द्रव्य प्रमाणानुगम से लेकर ग्रंथ रचना की। इसलिए इस खंडसिद्धान्त की अपेक्षा से भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुत (आगम) के कर्ता कहलाते हैं। अतः वर्धमान भट्टारक (वर्धमान तीर्थकर) मूल तंत्र (ग्रंथ) कर्त्ता हैं, गौतमस्वामी अनुतंत्र कर्त्ता हैं, राग–द्वेष – मोहरहित भूतबलि – पुष्पदंत आदि मुनिवर आचार्य उपतंत्रकर्त्ता हैं।

यहाँ पर इन्द्रनन्दि आचार्यरचित श्रुतावतार के कथन को भी कहने की आवश्यकता है। भूतबलि आचार्य ने द्रव्यप्ररूपणादि से लेकर (द्रव्यप्रमाणानुगमाधिकार से लेकर) आगे की पॉच खण्डों तक की रचना की। पूर्वसूत्र सहित ये पॉच खंड ६००० सूत्र ग्रंथप्रमाण हैं। इसके बाद भूतबलि स्वामी ने ३०,००० सूत्र ग्रंथप्रमाण महा बंध नामक छठे खंड की रचना की। जीवस्थान, क्षुल्लकबंध, बंध–स्वामित्व, (भाव) वेदना और वर्गणा नामक पहले के पॉच खंड हैं।[६६] इस तरह भूतबलि स्वामी ने षट्खंडागम की रचना कर सद्भाव स्थापनापूर्वक पुस्तक में आरोपित कर ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी के दिन चातुर्वर्ण्यसंघ समेत उन पुस्तकों की पूजोपकरणों से क्रियापूर्वक पूजा की। इस कारण से यह दिन श्रुतपञ्चमी के रूप में प्रसिद्ध हुआ । इसलिए आज भी जैन लोग उस दिन श्रुत की पूजा करते हैं। भूतबलि स्वामी ने जिनपालित को षट्खंडागम पुस्तक (ग्रंथ) के साथ पुष्पदन्त गुरू के पास भेज दिया। पुष्पदन्त ने जिनपालित के हाथों में षट्खण्डागम पुस्तक को देख 'मुझसे चिन्तित **समस्त अंगोत्पन्न कार्य** सम्पन्न हुआ' सोचकर श्रुतानुराग से चातुर्वर्ण्य संघान्वित हो ऐसा सोचकर गंध, अक्षत, माल्य, (वस्त्र) अंबर, वितान, घंटा, ध्वज इत्यादि से —— श्रुतपञ्चमी के दिन सिद्धान्तपुस्तक की महती इज्या (पूजा) की। – यह षट्खण्डागम के सूत्रोत्पत्ति का विवरण है।"

इस विषय के बारे मे इन्द्रनन्दि आचार्यरचित क्षुतावार मे जो कथित है उस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है "उनसे (जिनपालित से) पठित सत्प्ररुपणा को सुनकर भूतबलिने, पुष्पदन्तगुरु के षट्खण्डागमरचना के अभिप्राय को जानकर तथा

मानवों के अल्पायुष्य और अल्पमतित्व को ध्यान मे लाकर द्रव्यप्ररुपणाधिकार के पश्चात् .... व्यरचयत"

**तेन ततः पठितां भूतबलिस्सत्प्रस्पणां श्रुत्वा।**
**षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ।।१३६।।**
**विज्ञायाल्पायुव्यानल्पमतिमानवान्प्रतीत्य ।**
**द्रव्यप्ररूपणादयधिकारः खण्डपञ्चकस्यान्वक ।।१३७।।**
**.....व्यरचयत" ।।१४०।।**

**कषायप्राभृत-आगम**

गुणधर—धरसेन गुरूओं का पूर्वापरक्रम, उनकी परंपरा को बताने वाली परंपरानुश्रुति (आगम) और उस को जानने वाले मुनियों के अभाव के कारण ज्ञात नहीं हो सका है। गुणधर मुनिनाथ ज्ञानप्रवाद नामक पॉचवे पूर्व की दसवें वस्तु के प्रायोदोष नामक तीसरे प्राभृत (पाहुड) के ज्ञाता थे। इन्होंने अपनी (समय के मुनियो की) स्मरणशक्ति की मंदता को देख '**प्रायोदोषप्राभृतक**' अपरनाम 'कषायप्राभृत' की १८३ मूल सूत्रगाथाओ तथा ५०३ विवरण गाथाओं सहित रचना की। इस प्रकार के गाथासूत्रों के १५ महाधिकारों की रचना कर नागहस्ति और आर्यमक्षु को व्याख्यानपूर्वक उपदेश दिया। उन दोनों के पास यतिवृषभ उन सूत्रों का अध्ययन कर शास्त्रार्थ में निपुण हो गए और ६००० चूर्णिसूत्र ग्रंथरचना की। उनके पास उच्चारणाचार्य ने ग्रंथार्थरूप से उन सूत्रों का अध्ययन कर १२,००० ग्रंथप्रमाण के उच्चारणासूत्रों की वृत्ति के रूप में रचना की। इस प्रकार चूर्णिसूत्र और उच्चारणासूत्रों सहित कषायप्राभृत गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य से उपसहृत हुआ। इस प्रकार दो प्रकार के द्रव्य भाव पुस्तकारूढ सिद्धान्त गुरू परंपरा से कुंदकुंदपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुए।[७०]

## श्रुतधर आचार्यानुक्रम (परंपरा)

षट्खण्डागम, धवला टीका के आधार पर भगवान महावीर के बाद की श्रुतधर आचार्य परंपरा को पीछे कह आए हैं। लेकिन अन्य स्रोतों में भी इस विषय का उल्लेख है और इन सब कथनों के बीच दिखाई देने वाले अंतर की समीक्षा आवश्यक है।

दिगंबर आम्नाय के श्रुतधर आचार्य परंपरा के संबंध में अनुबद्ध रूप से न सही, सूचना रूप से कुंदकुंद आचार्य से प्राप्त होने वाला निर्देश प्रायः प्राचीनतम है। यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में श्रुतधर आचार्यों के काल निर्देश के साथ–साथ आचार्यों की परंपरा का उल्लेख हुआ है फिर भी इस ग्रंथरचना काल के बारे में मतभेद है और प्रक्षेपों की वजह से इसमे कहा गया प्रस्तुत विषय मौलिक है या प्रक्षिप्त–यह प्रश्न बनता है। इस आचार्य परंपरा को आंशिकरूप से कहने वाला प्राचीनतम स्रोत है– श्रवणबेलगोला के छोटे पहाड का पहला नं शिलालेख। इसके बाद उल्लेखनीय स्रोत हैं– धवला, जयधवला हरिवंशपुराण, (महापुराण के) पूर्वपुराण, उत्तरपुराण, श्रुतावतार, श्रवणबेलगोला के अर्वाचीन कालीन शिलालेख, माघनन्दि आचार्य की शास्त्रसारादि कृतियाँ, नन्दिसंघ आम्नाय की पट्टावलियाँ आदि।

यह बात स्पष्ट है कि षट्खंडागम की रचना तक आगम एकदेश रूप से आचार्य परम्परा की स्मृति में सुरक्षित था। इस आगम ज्ञान के साथ किस–किस काल में कितना–कितना आगमभाग च्युत हुआ और च्युत होकर शेष बचे भाग का स्मृति में धारण करने वाले आचार्यों के नाम भी आगमज्ञान के साथ सुरक्षित रहे होंगे यह अब तक के विश्लेषण से व्यक्त होता है।

कुन्दकुन्द आचार्य ने सुत्तपाहुड (की गाहा–२) में

**सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरिय परंपरेण मग्गेण ।**
**णाऊण दुविह सुत्तं वट्ठदि सिवमग्ग जो भव्वो ।।**

'सुत्त अर्थात् आगम में जो दर्शाया है उसे आचार्य परम्परा के मार्ग से जानकर........' इस प्रकार कहा गया है । यहाँ पर बताई गई आचार्य परंपरा भगवान महावीर तीर्थंकर के निर्वाण के बाद से कुन्दकुन्द आचार्य तक की आचार्य परंपरा है– इसमें संदेह नहीं है। इसी प्रकार का और एक उल्लेख बोधपाहुड की (गाहा – ६१, ६२ में) मिलता है। 'जिनेन्द्र भगवानों से जो कहा गया वह भाषात्मक सुत्तों (आगम) में (वचन–रूप के) शब्दरूप में परिणत हुआ और वह उसी रूप में कहा गया और वह भद्रबाहु के शिष्य द्वारा जाना गया (६१)। चौदह पूर्वों और अंगों का विपुल विस्तारवाला द्वादशांग का विशेष ज्ञान श्रुतज्ञानधारी (हमारे) पूर्वपरम्परा के (गमक) गुरू भगवान भद्रबाहुस्वामी जयवंत हो। गाहा (६२)

**सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु जं जिणे कहियं ।**
**सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ।।६१।।**
**बारसअंग वियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।**
**सुयणाणी भद्दबाहू गमयगुरू भयवओजयउ ।।६२।।**

('गमक' का अर्थ को ज्ञापक' ऐसा राजवर्तिक (सूत्र–१ की टीका–१५) में और 'चिह्न' ऐसा गुणरत्न की षड्दर्शन (कारिका २ की) टीका में कहा गया है।)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि (गाहा ६२) श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी को कुंदकुंद आचार्य ने अपनी पूर्वपरम्परा के गुरू के रूप में कहा है। इसकी पृष्ठभूमि में (इसके पीछे) विशेष अर्थ निहित है। कुंदकुद आचार्य ने अपने ग्रंथों में स्थान–स्थान पर जिणपण्णत्तं 'केवलिजिणेहिं भणियं' ही नहीं बल्कि'केवलिसुदकेवली भणिदं, सुदकेवली भणिदं' भी कहा है। इस प्रकार अपने आगम–ग्रंथों का वक्तृत्व प्रामाण्य को प्रकट करने के लिए कहा है यह स्पष्ट है।

कुंदकुंद आचार्य के समय के कुछ समय पहले जैन निर्ग्रथ संघ में दिगंबर और श्वेतांबर ऐसी दो शाखाएँ बनी थीं। नंदि आम्नाय 'ई' पट्टावली में कहा गया है कि श्वेतांबरों ने अपनी पट्टावली प्रवर्तित करा

ली। इस संबंध में आगे विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। 'चाहे तीर्थंकर ही क्यों न हो वस्त्र धारण करने पर मुक्ति नहीं मिल सकती' (सूत्रपाहुड, गा. २३) ऐसा कहना श्वेतांबर पंथ की ओर इशारा करता है। श्वेतांबर पंथ के कथनानुसार ही स्थूलभद्रस्वामी ने दो वस्तु अधिकारों से कम (न्यून) दस पूर्वों को शब्द और अर्थ से धारण कर अंतिम चार पूर्वों को मात्र शब्द से धारण किया था– ऐसा खरतगच्छ पट्टावली मे कहा गया है, फिर भी इन्हें उस पंथ में चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली ही माना गया है। इतना ही नही बल्कि श्वेतांबर पंथ में स्थूलभद्रसूरि के बाद चतुर्दश पूर्वों में अंतिम चार पूर्व नष्ट होने के कारणरूपी कलंक को श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी पर लगा दिया गया है। इस प्रकार स्थूलभद्र सूरि को श्रुतकेवली माने जाने के कारण कुंदकुंद आचार्य ने जिनका उल्लेख वक्तृत्व प्रामाण्य के लिए किया है ऐसे श्रुतकेवलियों में स्थूलभद्रसूरि भी गिने जाने की आपत्ति की सभावना थी। इस आपत्ति के परिहारार्थ श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी को अपनी पूर्व परपरा के गुरू के रूप में जैसा कि ऊपर कहा है– (गा ६२) सूचित ही नहीं किया है बल्कि इन्हें ही अतिम श्रुतकेवली बताया है। इसी प्रकार अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के बाद अनुक्रमरूप से दिगंबर पंथ में बताए गए विशाखाचार्य आदि दशपूर्वी आचार्य परंपरा को सूचित किया है। इतना ही नहीं बल्कि, इससे पूर्व की (६१) गाहा में आचार्य कुंदकुंद ने अपने को जिस 'भद्रबाहु' नामक आचार्य का शिष्य बताया है उस भद्रबाहुस्वामी से श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी भिन्न थे। इसी प्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से कुंदकुंद आचार्य के साक्षात् गुरू भद्रबाहुस्वामी तक के अनुक्रम अनुबद्ध आचार्य परंपरा को भी परोक्षरूप से सूचित किया है। सभवत ऐसा लगता है कि यह आचार्य परपरा कुंदकुंदाचार्य के समय के मुनि समाज को ज्ञात थी। इसलिए उसे कहने की आवश्यकता कुंदकुंद आचार्य को दिखाई नहीं दी। कुंदकुद आचार्य के साक्षात् गुरू भद्रबाहुस्वामी कौन थे– इसके बारे में आगे विचार किया जाएगा।

श्रुतधर आचार्य परंपरा के निरूपण के स्रोतों में मतभेद हैं और इसको प्रमुख रूप से दो प्रकार से समझा जा सकता है। इन मतभेदों में प्रमुख रूप से दश पूर्वियों की संख्या, एकादशांगधारियों की संख्या, दश,

नव, अष्ट अंगधारियों का विवरण, आचारागधारियों की संख्या और उपान्त्य आचारांगधरका नाम इनकी समीक्षा की जानी चाहिए।

श्रवणबेलगोला का पहले क्रमांक का शिलालेख इस विषय मे प्राचीनतर है। यह ५वीं शताब्दी का है। इसमें भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद के कुछ परमर्षियों के नामो का उल्लेख इस प्रकार है. .. "महावीरसवितरि निर्वृत्ते भगवत् परमर्षि गौतमगणधरसाक्षात् शिष्य लोहार्य **जंबु विष्णु देव अपराजित गोवर्धन भद्रबाहु विशाख प्रोष्ठिल क्षत्रिक आर्य जय नाम (नाग?) सिद्दार्थ धृतिषेण** बुद्धिल आदि गुरूपरम्परीण–" क्रमाभ्यागत महापुरूषसन्तति समवद्योतित अन्वय भद्रबाहुस्वामिना ......

इस उपर्युक्त उल्लेख में समाविष्ट 'लोहार्य' नाम सुधर्म स्वामी गणधर का दूसरा नाम है।[71] पॉच श्रुतकेवलियों मे प्रथम को 'विष्णु' कहा गया है लेकिन कुछ अन्य स्रोतों में नन्दि कहा गया है। संभवत इनके विष्णु और नन्दि ऐसे तो नाम रहे होंगे, अथवा 'विष्णुनंदि' नाम ही है।[72] अब दूसरे श्रुतकेवली को, जैसा कि इस शिलालेख मे उल्लेख किया गया है 'देव' कहा गया है, लेकिन अन्यत्र नंदि या नदिमित्र नाम है। प्राय: इस आचार्य के भी देवनंदि और नदिमित्र ऐसे दो नामो की सभावना होगी। शायद यहॉ पर नामो का पहला शब्द या अतिम शब्द नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह व्याकरण सम्मत भी है।

दशपूर्वियों का नामोल्लेख करते समय, जैसा कि ऊपर बताया गया है, मात्र नौ आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है। प्रस्तुत प्रसग में यह ध्यान देने योग्य है कि नंदि आम्नाय पट्टावली[73] के, ए, बी, सी, डी, ई, पाठ भेदों में 'ई' पा.भे. के अनुसार भी नौ आचार्य ही दश पूर्वियों में गिने गए हैं। उपरि उल्लिखित नामों में 'बुद्धिल' नाम अंतिम है। इसी प्रकार नंदि आम्नाय पट्टावली 'ई' पा.भे. में बहु धूलि अंतिम नाम है। यहॉ पर दशपूर्वियों के नामोल्लेख करने में एक दो अंतर हैं। मुख्य रूप से शिलालेख में 'आर्य' नाम है और 'विजय' नाम नही है लेकिन प्रस्तुत पट्टावली में 'आर्य' नाम नहीं है अपितु 'विजय' ऐसा अंतिम 'बहुधूलि' नाम

से पहले स्थान पर है। इस शिलालेख और प्रस्तुत पट्टावली से अन्य सब स्रोतों में भी ग्यारह दशपूर्वी आचार्यों का उल्लेख है। प्रस्तुत शिलालेख के संबंध में एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि गौतमादि बुद्धिलान्त्य महापुरूषों की परम्परा में और एक 'भद्रबाहु' नामक आचार्य का नामोल्लेख हुआ है। यह दूसरा 'भद्रबाहु' नाम इसी शिलालेख में ८ वें क्रम में उल्लिखित (श्रुतकेवली) 'भद्रबाहु' नाम से सर्वथा भिन्न आचार्य का नाम है। यह 'गुरूपरम्परीण क्रमाभ्यागत महापुरूष संतति समवद्योतितान्वय' इस विशेषण से स्पष्ट होता है।

उपरि उल्लिखित शिलालेख से भिन्न अन्य स्रोतों में दशपूर्वियों के बाद एकादशांग श्रुतधर आचार्यों के नाम हैं। 'नक्षत्र' आचार्य से लेकर 'कंस' नामक आचार्य से समाप्य पॉच आचार्यों के नाम साधारण रूप से नदि आम्नाय पट्टावली 'ई' पा.भे. से अन्य सब स्रोतों में दिए गए हैं, लेकिन प्रस्तुत 'ई' प्रति में गंगदेव आचार्य से लेकर ध्रुवसेन आचार्य तक छह आचार्यो के नाम एकादशांग श्रुतधर के रूप में दिए गए हैं। इन एकादशांग श्रुतधरों के बाद नंदि आम्नाय पट्टावली 'ई' पा.भे. से अन्य सब पट्टावलियों में दस, नौ और आठ (दश–नव–अष्ट) अंग श्रुतधरों के रूप में क्रमशः सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य आचार्यों के नाम दिए गए है। इसी प्रकार 'ई' पा.भे. से अन्य सब पट्टावलियो में अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि– इन पॉच आचार्यो को 'आचारांग' इस एक अंग श्रुतधर के रूप में बताया गया है, लेकिन इन पट्टावलियों से अन्य सब स्रोतो में अन्य नामों के आचार्यो को आचारांग श्रुतधरों के रूप में उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ : तिलोयपण्णत्ति में सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोय (लोह) इन चार का उल्लेख है। श्रुतावतार में तीसरे आचार्य का नाम विजयबाहु है। महापुराण **पूर्वपुराण** में तीसरे आचार्य का नाम भद्रबाहु है। उत्तरपुराण में श्रुतावतार के समान बताया गया है। नंदि आम्नाय पट्टावलि 'ई' प्रति में कसाचार्य, सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु, लोहाचार्य और विनयंधर को आचारांग श्रुतधर कहा गया है। इन विभिन्न स्रोतो में *दिखाई देनेवाले अंतर की समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि कालांतर में*

श्रुतधर आचार्यों के नामोल्लेख मे मतभेद उत्पन्न हुए और उन्हें सुधारने के प्रयत्न भी हुए हैं।

श्रुतधर आचार्यानुक्रम या मुनिसंघ के आचार्यानुक्रम की ऐतिहासिकता को 'इदमेव – इत्थमेव' न सही बल्कि सम्भाव्य रूप से स्पष्ट करने के लिए भद्रबाहु नाम के आचार्यों के ऐतिह्य के समालोचन की आवश्यकता है। भद्रबाहु स्वामी के ऐतिह्यप्ररूपक कथानकों में, जैसा कि इस समय उपलब्ध है, ९वीं या १०वीं शताब्दी का कहा जाने वाला कन्नड गद्यकाव्य 'वड्डाराधने' और १०वीं शताब्दी की कृति, हरिषेणाचार्य का 'बृहत्कथाकोश' ही प्राचीनतर दिखाई देती हैं। इन दोनों में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के चरित्र का उल्लेख हुआ है और कथावसर में इन दोनों में उल्लेखनीय अंतर है। इतना ही नहीं बल्कि, ऐतिहासिक घटना के कथा का रूप धारण करने पर उत्पन्न होने वाले इतिहासभंग के सब दोष इनमें मौजूद हैं। इन दोषों मे मौर्य चंद्रगुप्त के पौत्र अशोक सम्राट्, उसके पौत्र सम्प्रति चद्रगुप्त को भद्रबाहुस्वामी का समकालीन कहना बहुत ही आपत्तिजनक दोष है। लेकिन यह संप्रति चंद्रगुप्त और कोई न होकर महानंद अपर नाम कालाशोक का पौत्र नंद चद्रगुप्त ही है। यह वीरनिर्वाण सवत् १५६ से १६१ तक उज्जैन का शासक था। इसी समय कालाशोक की प्रणयसंगिनी स्त्री से उत्पन्न महापद्मनंद पाटलीपुत्र में बलिष्ठ सर्वाधिकारी बना था। कालाशोक की पट्टरानी से उत्पन्न नौ राजकुमारों को इसने कुटिल साधन से मार डाला था। अपने सार्वभौमत्व में बाधा बने नंद चद्रगुप्त को किसी तरह राज्यभ्रष्ट करने के प्रयत्न में था। नंद चद्रगुप्त जैन धर्म मे श्रद्धा रखता था। हर तरह से यातना देनेवाले महापद्मनंद ने कठोर राजाज्ञा जारी की कि मगध राज्य में कोई नंगा होकर न घूमे। इससे दिगंबर जैन मुनियों का वहाँ रहना मुश्किल हुआ। इसी समय श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी उज्जैन आये। नंद चंद्रगुप्त ने महापद्मनंद के कुटिल कुतन्त्र से बचने के लिए गुमराह होकर श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से मुनिदीक्षा ले ली। दिगबर मुनियों को यह बात समझ में आ गई कि विशाल मगध राज्य में चरित्र का पालन करना सभव नहीं है।

**जत्थकसायुप्पत्तिरभत्तिंदियदारइत्थीजण बहुलं ।**
**दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ।।५८।।**

**णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुटठओ होज्ज।**
**पव्वज्जो य ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ।।६०।।**

*(६५३) मूलाचार -समयसाराधिकार*

जिस क्षेत्र मे दुष्ट शासक हो उसे छोड देना चाहिए, उपर्युक्त आगम के आदेशानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी–नव–दीक्षित चंद्रगुप्त मुनि और अपने बृहत्–महान मुनिसघ के साथ दक्षिणापथ की ओर प्रयाण करके कल्बप्पु (श्रवण बेलगोला का छोटा पहाड) पहुँच गए। कुछ मुनिसघो के मुनि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के साथ प्रयाण न कर सकने के कारण उत्तरभारत में ही रह गए। कलबप्पु मे श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने अपना अन्त्यसमय समीपगत है ऐसा जानकर विशाखाचार्य को मुनिसंघ के आचार्यपद मे नियोजित कर दमिलनाड (प्रदेश) की ओर प्रयाण करने का आदेश दिया। मात्र चद्रगुप्त मुनि उनके साथ रह गए। इसके बाद वी. नि स १६२ मे कलबप्पु मे श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी समाधि मरण को प्राप्त हुए। (प्रस्तुत प्रबध की सीमा की दृष्टि से इस विषय की ऐतिहासिक घटना को सक्षेप रूप से प्रस्तुत किया है। विस्तार के लिए इस प्रबंध के लेखक के 'सन्मति श्रीविहार' (कन्नड) और 'कराबोरेषन ऑफ दि एजस् ऑफ भगवान् महावीर एण्ड भगवान गौतम बुद्ध' देखे जा सकते है)

उत्तर भारत में अकाल समाप्त होने पर विशाखाचार्य के प्रधान नेतृत्व में दमिलनाडु को गए मुनिसंघ के मुनियो ने कल्बप्पु आकर श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी की निषधि (समाधि या चरणों) की वन्दना कर उत्तर भारत–मध्य देश को प्रयाण किया। वहॉ अकाल के कारण आचारभ्रष्ट हुए मुनियों से विशाखाचार्य ने कहा कि आप सब नग्नता को छुपाने के लिए बाऍ हाथ मे लिए हुए कपडे के टुकडे को (अर्धगप्पड) त्यागकर निर्ग्रंथ रूप धारण कर व्रत धारणकर प्रायश्चित्त लेकर प्रतिक्रमण विधि का पालन कर तप में रत रहिए। तब इसे स्वीकार कर रामिलाचार्य, स्थूलाचार्य

अपने अपने ऋषिसमुदाय (मुनिसंघ) के साथ वस्त्र का टुकडा छोडकर प्रतिक्रमण कर प्रायश्चित्त लेकर यथोक्त चारित्र में निरत हुए। लेकिन स्थूलभद्राचार्य आदि कुछ ने यथोक्त चारित्र धारण न कर जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दो भेद कर अर्धगप्पड तीर्थ की स्थापना की। आगे चलकर एक बार वलभि के अधिपति वप्रपाल ने 'अपने नगर में वस्त्र के टुकडे वाले मुनिसंघ के आने पर उस संघ के मुनियों को बुलाकर कहा कि आप इस वस्त्र के टुकड़े को छोड़ दीजिए, निर्ग्रथ बनकर तप कीजिए। उनके न मानने पर राजा ने पुनः कहा कि 'निर्ग्रंथ रूप धारण करना स्वीकार न हो तो वस्त्र के टुकडे (अर्धगप्पड) को छोडकर वस्त्र लपेट लीजिए।' ऐसा ही करेंगे' – ऐसा कहकर उस बडग (उत्तर)प्रदेश के साधु (मुनि) वप्रपाल के राज्य में वस्त्र के टुकडे को छोडकर वस्त्र को न बाँधते हुए लपेटते है, भेडों के ऊन का कंबल ओढ लेते हैं, तब से कंबलतीर्थ बन श्वेताबर बने। दक्षिणापथ में सामलिपुत्र नामक राजा हुआ, उसकी सतान का श्वेतभिक्षु जापुलि सघ का प्रथम (साधु) बना।[७४]

उपर्युक्त कथन में चन्द्रगुप्त मौर्य का पोता सम्राट अशोक हुआ, उसका पोता सम्प्रति चद्रगुप्त हुआ, इस अश को छोडकर शेष कथन 'वड्डाराधने' कथा पर आधारित है। प्रस्तुत प्रसग में सम्प्रति चंद्रगुप्त के सन्दर्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। सामान्य रुप से इस मौर्य चन्द्रगुप्त को ही श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा ग्रहण कर उनके संघ में सम्मिलित हो, दक्षिणापथ प्रयाण कर, कल्बप्पु पहुँचकर, वहाँ पर अपने गुरू के अन्तिम समय में उनकी सेवा की – ऐसा समझा जाता है। लेकिन मौर्य चंद्रगुप्त ने ईसा पूर्व ३२२ में राज्याभिषिक्त होकर २४ वर्ष तक शासन किया और इसके अनुसार ई०पू० (३२२–२४) २९८ में इनका शासन समाप्त हुआ, ऐसा विश्वास है। इस गणना के अनुसार इन्हें ई.पू. २९८ में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से दीक्षा लेनी चाहिए। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी का, दिगंबर आम्नायानुसार वी.नि. सं. १६२ में या श्वेतांबराम्नायानुसार वी.नि.सं. १७० में देहावसान हुआ। इस आधार पर ई.पू. (२९८+१६२) ४६० में या (२९८+१७०) ४६८ में भगवान महावीर निर्वाण प्राप्त हुए हैं, ऐसी गणना होगी। लेकिन श्री वीर निर्वाण वि.

सं.पू. ४७० में अर्थात् ई.पू. (५८+४७०) ५२७ – ५२८ में हुआ है ऐसे जैन आम्नाय के ठोस प्रमाण हैं। इसलिए श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से मुनिदीक्षा लेने वाले को मौर्य चंद्रगुप्त का समझना बिल्कुल असत्कल्पना होगी। इस समय जैन आम्नाय में सुरक्षित ऐतिहासिक आधार से इसका परिष्कार किया जा सकता है। हेमचंद्राचार्य ने चंद्रगुप्त के राज्याभिषेक के बारे मे परम्परानुगत एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है, इसके अनुसार श्री वीर निर्वाण के १५५ वर्ष के बाद अर्थात् १५६ वें वर्ष में चंद्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ है। इस पंरपरानुगत अनुश्रुति का ठीक प्रकार से विचार विमर्श किए बिना उपेक्षित करना इतिहास के प्रति अपचार होगा। वैदिक पुराणों के वंशानुचरित्र के अनुशीलन से मौर्य चंद्रगुप्त से पूर्व नंदचंद्रगुप्त (नन्देन्दु) का शासन था, ऐसा संकेत मिलता है। यह महानंद कालाशोक का पोता था और इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इन्होंने पॉच वर्ष तक शासन किया फिर वी.नि.सं. १६१ में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से मुनिदीक्षा लेकर उनके संघ के साथ दक्षिणापथ प्रयाण कर कल्बप्पु पहुँच कर वहाँ गुरूसेवा में निरत रहे।[७६] श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा लेने वाले चन्द्रगुप्त को उज्जयिनी का शासक तो कहा गया है लेकिन पाटलीपुत्र का शासक नहीं। इतना ही नही बल्कि किसी प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य में इन्हें मौर्य चंद्रगुप्त नाम से कहीं भी नहीं बताया गया है इस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के सन्दर्भ में 'बड्डाराधने' और 'बृहत्कथा कोश' के कथा प्रसंगों की समीक्षा करने की आवश्यकता है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के दक्षिणापथ की ओर प्रयाण करने के निश्चय करने के कारणस्वरूप वड्डाराधने में दो शकुन (संकेत) कहे गए हैं। पहला श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी मुनिसंघ के साथ बिहार करते उज्जैन पहुँच कर उस नगर के बाहर के उद्यानवन में रहते हैं। यह जानकर उस नगर का राजा चन्द्रगुप्त उनके पास सपरिवार आकर वंदना कर धर्मश्रवण कर श्रावकव्रत धारण कर वापस अपने राजमहल जाता है। एक दिन श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी भिक्षाटन के लिए नगर के एक घर में प्रवेश करते हैं। उस घर में कोई नहीं था। दरवाजे के पास के एक कमरे में पालने में से एक

बच्चा 'बोळह—बोळह (जाइए—जाइए) भट्टारा' कहता है। उसे दिव्य वाक्य समझकर भट्टार ने (काल सीमा) 'कितना समय' पूछने पर बालक ने द्वादश (बारह) वर्ष कहा। भट्टार ने कालदोष से प्रजाओं को पीडा होगी ऐसा जाना और करूणा बुद्धि से आहार न लेते हुए अलाभ परीषह सहनकर बसदि चैत्यालय जाकर गोचर नियम कर मुनियों को बुलाकर 'इस प्रदेश में बारह वर्ष तक अनावृष्टि के कारण अकाल पडेगा, इस प्रदेश में विहार करने वाले सब मुनियों के पास संदेश भेजकर उन्हें शीघ्र ही बुलाकर दक्षिणापथ जायेंगे, ऐसा संदेश संघ के पास भेजा। अब दूसरा शकुन यहाँ (चन्द्रगुप्त) राजा ने उस रात सोलह बुरे सपने देखे। दिन निकलने पर भद्रबाहु भट्टार के पास जाकर वंदना कर अपने देखे सपने उन्हे बताए और उनके फल (परिणाम) बताने की प्रार्थना की। उनके देखे स्वप्नों मे एक स्वप्न कल्पवृक्ष की उपरिशाखा टूटी हुई थी और एक बारह फणवाला साँप था। इन दोनों में से प्रथम का फल—उस दिन के बीतने पर कुल—बल—वैभव से श्रेष्ठ मुकुटबद्ध राजा तप नहीं करेंगें और द्वितीय का फल उस प्रदेश मे बारह वर्ष तक अकाल पडेगा— ऐसे भट्टार के बताए फलों (परिणामों) को सुनकर सम्प्रति चन्द्रगुप्त महाराज ने 'उस दिन के बाद मांडलिक राजा जिनदीक्षा नही लेगे' ऐसा सोचकर भयभीत हो सिंहसेन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर भट्टार के पास उसी दिन तप (दीक्षा) धारण किया। फिर वहाँ मध्य देश में विहार कर रहे मुनियों को बुलाकर भट्टार बोले ' बारह वर्ष तक इस प्रदेश मे अनावृष्टि होगी महारौद्र पसव (उपसर्ग) होगा, सारा मध्यदेश नाश होगा। इस प्रदेश में विहार करने वाले मुनियों का व्रतभंग होगा, इसलिए दक्षिणापथ जाएँगे।' ऐसा कहकर आचार्य आठ हजार मुनियों और चंद्रगुप्त मुनि के साथ दक्षिणापथ चल पडे। कल्बप्पु पहुँचने के बाद श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने अपनी आयु का अंत समीप जानकर मुनिसंघ को द्रमिलदेश भेजकर चार प्रकार के आहार व शरीर की यावज्जीवन निवृत्तिपूर्वक सन्यास धारण किया। इनके साथ मात्र एक चंद्रगुप्त मुनि ही रह गए। क्षुत् परीषह को सहनकर शुभ परिणाम से श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने शरीर त्यागकर ब्रह्मकल्प मे अमितकाति देव पद पाया।

यही घटना **बृहत्कथाकोश के** अनुसार इस प्रकार है – अवंती देश में उज्जयिनी नगर है, उसके निकट सिप्रा नदी बहती है, इसके तट पर सुशोभित उपवन में चतुर्विध संघ सहित भद्रबाहु मुनि पहुँचे। उस समय उस नगर में चंद्रगुप्त नामक राजा राज्य करता था। वह सम्यगदर्शन सम्पन्न श्रावक था, सुप्रभा उसकी महादेवी थी। एक दिन भद्रबाहुमुनि ने भिक्षाटन के निमित्त एक घर में प्रवेश किया । उस घर में कोई नहीं था लेकिन एक पालने में एक बालक था। वह बोला 'भगवान यहाँ से चले जाइए।' इस तरह बालक की बात सुनकर दिव्य ज्ञानी भद्रबाहु मुनीश्वर ने सोचा कि बालक की यह बात यह सूचित करती है कि इस प्रदेश में बारह वर्ष वर्षा नहीं होगी। इसके पश्चात् वे जिन मंदिर में चले गए। वहाँ पर सब संघों के गुरूओं को गुरू ने कहा "इस देश में अनावृष्टि होगी। बारह वर्ष तक अकाल पडेगा। राजा और चोरों के कारण यह देश शून्य होगा मेरी आयु क्षीण हुई है। अतः मैं यही रहता हूँ, साधुओ! तुम सब लवणसमुद्र के पास जाओ!" भद्रबाहु स्वामी की बात सुनकर चंद्रगुप्त नरेश्वर (राजा) जैनेश्वरी तप स्वीकार कर शीघ्र ही दशपूर्वियों में अग्रसर होकर विशाखाचार्य नाम प्राप्त कर सर्वसंघाधिपति बन गये। गुरू के वचनानुसार सम्पूर्ण संघ दक्षिणापथ देश के पुन्नाट प्रदेश को गया। धीर तथा सप्तभय रहित भद्रबाहु मुनि उज्जयिनी से संबंधित भाद्रपद देश में प्रवेश कर तीव्र प्यास–भूख सहनकर, अनशनपूर्वक कई दिनों तक चतुर्विध आराधना कर समाधिमरण प्राप्त कर स्वर्गवासी हुए। इसके बाद दक्षिणापथ न जाकर उत्तरापथ में ही बसे मुनिसंघों के मुनियों का आचार भ्रष्ट होना और उनसे जिनकल्प और स्थविरकल्पों के प्रवर्तन संबंधी घटनाओ को वड्डाराधने में कहे अनुसार ही कहा गया है।

वड्डाराधने और बृहत्कथाकोश दोनो मूलाराधना (भगवती आराधना) गाहाओं पर आधारित कथाएँ हैं फिर भी इन दोनों के कथा प्रसंगो में उल्लेखनीय भिन्नता है। इन भिन्नताओं में प्रमुखता से १ – श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के दक्षिणापथ के प्रयाण करने के निर्णय लेने में निमित्त के रूप में वड्डाराधने कथा में बालक का 'बोळह–बोळह' वचन और चंद्रगुप्त राजा के सोलह सपनों के रूप मे दो शकुन कहे गए हैं

लेकिन बृहत्कथाकोश की कहानी में मात्र पहला शकुन–संकेत ही कहा गया है। चंद्रगुप्त के सपनों का उल्लेख ही नहीं है ।२– श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के दक्षिणापथ की ओर प्रयाण कर कळ्बप्पु पहुँचकर वहाँ पर समाधिमरण प्राप्त करने और इनके साथ वहॉ चंद्रगुप्त मुनि के रहने की घटना वड्डाराधने में तो है लेकिन बृहत्कथाकोश में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी मुनिसंघ को दक्षिणापथ जाने का आदेश देते हैं और स्वयं वहीं पर रहकर उज्जयिनी के निकट भाद्रपद में समाधिमरण प्राप्त करते हैं। इसके अलावा इस कथा के अनुसार चंद्रगुप्त मुनि ही दश पूर्वधर बनकर विशाखाचार्य नाम प्राप्त करते हैं और दक्षिणापथ प्रयाण करने वाले मुनिसंघ के प्रधानाचार्य बनते हैं। ३– वड्डाराधने कथा में चंद्रगुप्त मुनि के हृदयग्राही कान्तारचर्या घटना का वर्णन है लेकिन वृहत्कथाकोश में इस घटना के कथन का उल्लेख ही नहीं है। इन घटनाओ की समीक्षा से कम से कम मूलरूप से भद्रबाहु नाम के दो आचार्यों के कथा प्रसंग के रूप मे परिवर्तित होने की संभावना देखी जा सकती है। वड्डाराधने कथा में दो शकुनों का प्रसंग ही नहीं बल्कि, दक्षिणापथ प्रयाण करने का आदेश मुनिसंघ को दो बार भेजने का कथन है, साथ ही कळबप्पु में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी द्वारा समाधिमरण धारण करने का प्रसंग दो बार आया है। इससे इस कथा मे 'भद्रबाहु' नाम के दो आचार्यों के कथा प्रसगों मिलकर श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के कथाप्रसंग के रूप मे परिवर्तित होने की संभावना देखी जा सकती है। दो शकुनों मे से एक चंद्रगुप्त के स्वप्न का शकुन श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के कथा प्रसंग से संबंधित है और दूसरा एक अन्य भद्रबाहुस्वामी के कथा प्रसंग से सबधित हो सकता है। श्रवणबेलगोला के छोटे पहाड की चंद्रगुप्त बसदि में उकेरे गए शिल्प चित्रों में चंद्रगुप्त के स्वप्नों के चित्र तो हैं पर शिशु बालक के वचन शकुन का शिल्प नहीं है। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि वड्डाराधने में बताए गए चंद्रगुप्त मुनि के कान्तार भिक्षाचर्या का प्रसंग भी इस शिल्प चित्र में है। इस प्रसंग का कथन वृहत्– कथाकोश की कथा में नहीं है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी चंद्रगुप्त मुनि के साथ कळबप्पु में थे यह प्रसंग श्रवणबेलगोला के छोटे पहाड के शिलालेख के (क्रमांक १७–१८/३१/३४) श्री भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त मुनीन्द्र युग्मदिनोप्पेवल् '....' वाक्य से दृढ होता है।

इस प्रकार भद्रबाहुस्वामी कथानकों की समीक्षा से भद्रबाहु नाम के आचार्य कम से कम दो होने और उनमें से एक श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी का होना स्पष्ट होता है।

कुंदकुंद आचार्य के बोधपाहुड के कथन के आधार पर उनसे पूर्व दो 'भद्रबाहु' नाम के आचार्य होने और उनमें से एक श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी होने और दूसरे कुंदकुंद आचार्य के ही गुरू होने की बात पीछे स्पष्ट की जा चुकी है। इसी प्रकार श्रवणबेलगोला के पहले क्रमांक के शिलालेख में भी 'भद्रबाहु' नामक दो आचार्यों का उल्लेख होने और उनमें से एक श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी हैं यह भी पीछे स्पष्ट कर आए हैं। दिगंबर आम्नाय के श्रुतधर आचार्यों का अनुक्रम बताने वाले सभी स्रोतों में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी का उल्लेख है ही। इसलिए द्वादशांग चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवलियों में अन्तिम तथा गौतमगणधर स्वामी की परंपरा में आठवें श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में संदेह उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं है। अब श्रुतधर आचार्यानुक्रम में हुए दूसरे भद्रबाहुस्वामी कौन थे– इसे समझने का प्रयास किया जा सकता है। नंदि आम्नाय पट्टावली की प्रतियों में 'ई' प्रति से अन्य सभी ए.बी.सी.डी. प्रतियों की प्राकृत गाहाओं में दश, नव, अष्ट अंगश्रुतधरों का उल्लेख कर भद्रबाहु आचार्य को अष्ट अंगश्रुतधर बताया गया है। ये विक्रमादित्य के शासन के समय में पट्टस्थ (आचार्य) बने थे। परंपरागत अनुश्रुति के अनुसार बराहमिहिर भी इसी समय हुए हैं। श्वेतांबर आम्नाय मे श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी को वराहमिहिर का भाई कहना इस अष्टांग श्रुतधर भद्रबाहुस्वामी पर लागू होता है। इसके अलावा वृहत्कथाकोश के श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के कथा प्रसंग के अनुसार इस भद्रबाहू स्वामी का उज्जयिनी के निकट के भाद्रपद देश में समाधिमरण होना कहा गया है। श्वेतांबर आम्नाय के कथनानुसार भी भद्रबाहुस्वामी का पाटलीपुत्र के निकट समाधिमरण हुआ है। लेकिन शेष सब कथा और शासन आदि ऐतिहासिक उल्लेखानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी का कळबप्पु–श्रवणबेलगोला के छोटे पहाड पर समाधिमरण हुआ है। इसलिए यह समझा जा सकता है कि नंदि आम्नाय पट्टावली के अष्ट अंगश्रुतधर भद्रबाहुस्वामी का इतिवृत्त श्वेतांबर आम्नाय

में और वृहत्कथाकोश की कथा में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के इतिवृत्त के रूप में परिवर्तित हुआ है। यह अष्ट अंगश्रुतधर भद्रबाहुस्वामी श्रुतधर आचार्य परम्परा में द्वितीय (द्वि) भद्रबाहुस्वामी हैं। आगे चलकर यह कह सकते हैं कि इसी श्रुतधर आचार्य परम्परा में और एक आचार्य का नाम भद्रबाहु था। आचारांग श्रुतधरों में उपान्त्य आचार्य को 'भद्रबाहु' के नाम से महापुराण में [७६] जिनसेनाचार्य ने उल्लेख किया हैं। यह पहले बता दिया है। इस जिनसेनाचार्य को, अपने ही गुरु वीरसेनाचार्य से धवला टीका में उपान्त्य आचारांगु श्रुतधर आचार्य को जो यशोबाहु (जसबाहु) नाम से बनाया गया है, वह मालूम न हो ऐसा तो नही हो सकता। इसके बावजूद यशोबाहु नाम के बदले भद्रबाहु कहने में इस उपान्त्य आचार्य के बारे में उस समय की विप्रतिपत्ति या मतभेद को देखा जा सकता है। नंदि आम्नाय पट्टावली ई प्रति में भी भद्रबाहुस्वामी को आचारांग श्रुतधरों मे एक बताया गया है। इतना ही नहीं सब नंदि आम्नाय पट्टावलियों में भी एक और भद्रबाहुस्वामी का उल्लेख हुआ है। इनके बाद गुप्तगुप्ति (अर्हद्बलि) का उल्लेख है और तत्पश्चात् माघनंदि, जिनचंद्र, कुदकुंद आदि परंपरा के साथ नंदिसंघ की आचार्यों परंपरा को बताया गया है। लेकिन अर्हद्बलि और माघनंदि को पॉच आचारांग श्रुतधरों मे पहले के दो आचार्यो के रूप में बताया गया है। इसे देखने पर नदि आम्नाय पट्टावली प्रतियों के इतिहास निरूपण में मतभेद होना स्पष्ट होता है। इसके बारे में आगे विचार विमर्श किया जाएगा। प्रस्तुत प्रसंग मे नदि आम्नाय पट्टावली की प्रतियो में तीन भद्रबाहु नाम के आचार्यो का उल्लेख होना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

कुंदकुद आचार्य ने बोधपाहुड मे जिसे अपना साक्षात् गुरू कहा है ऐसे भद्रबाहु और श्रवणबेलगोला के पहले क्रमांक के शिलालेख में, जैसा कि पहले कह आए हैं, बताए गए दूसरे भद्रबाहु नाम के आचार्य कौन थे इसकी मीमांसा करने का प्रयास किया जा सकता है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी और अष्टअंगश्रुतधर भद्रबाहुस्वामी के बारे में पीछे मीमांसा की गई है। इनके अलावा तृतीय (तृ) भद्रबाहु नाम के एक आचार्य जिनसेनाचार्य के कथन और नदि आम्नाय पट्टावली ई प्रति के उल्लेख

से मिलने वाली जानकारी के अनुसार क्या वह आचारांग श्रुतधर रहे होंगे यह प्रश्न उत्पन्न होता है। श्रवण बेलगोला का पहला शिलालेख नं २ का श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से संबंधित न होकर इनके पश्चात् हुए अनेक महापुरूषों की परंपरा में और एक भद्रबाहु नाम के आचार्य से संबंधित है और ये ही इस शासन का केन्द्र व्यक्ति है। इस बारे में विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। यह भद्रबाहुस्वामी उत्तरापथ में पडने वाले बारह वर्ष की विषमता को त्रैकाल्यदर्शी निमित्त से जानकर बताने पर पूरा संघ उत्तरापथ से चल पडा। आर्ष (मार्ग) से ही अनेक ग्रामों (इत्यादि) से घिरे जनपद को क्रमण करके आचार्य ने कटवप्रनाम के पहाड पर पहुँच कर, वहाँ से सम्पूर्ण संघ को प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य के बिना आगे जाने के लिए आदेश देकर अपनी देह का त्याग किया (समाधिमरण प्राप्त किया)।

इस शिलालेख मे त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेण ऐसा कहा गया है। वड्डाराधने मे दर्शाए गए दो शकुनरूपी निमित्तों में बोळह–बोळह यह बालक के वचन का निमित्त श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी को अन्वित न होकर और एक अन्य भद्रबाहु नामक आचार्य पर लागू होगा यह पीछे कह आए हैं। वह निमित्त इस शिलालेख में बताया गया "त्रैकाल्यदर्शी' निमित्त है वह इस शिलालेख के केन्द्र व्यक्ति भद्रबाहुस्वामी पर लागू होगा ऐसा समझा जा सकता है। वड्डाराधने कथा में उत्तर भारत में अकाल पडने की बात कही गई है और कालदोष से प्रजा पीडित दुखी होगी ऐसा भी कहा गया है। इसी प्रकार वृहत्कथाकोश की कथा मे भी अकाल पडने की बात है और यह देश राजा लुटेरों की लूट से शून्य होगा ऐसा भी कहा गया है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के समय महापद्मनंद राजा के विरोध से निर्ग्रन्थ मुनियो को वहॉ पर अपने धर्म को पालन न कर पाने की स्थिति पैदा हुई ऐसा पहले कहा गया है। इस कारण बारह वर्ष के अकाल की घटना इस उपर्युक्त पहले शिलालेख के केन्द्र व्यक्ति भद्रबाहु स्वामी के समय पर लागू होगी। ये दक्षिणापथ को 'आर्ष मार्ग का अनुसरण कर आए' यह कथन इस आचार्य से पहले कळ्बप्पु को श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के आने की घटना का सूचक है। यहॉ पर एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है,। जो कळबप्पु मे श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के सेवानिरत था वह

वड्डाराधने कृति के कथानुसारकळबप्प उज्जयिनी राजा (संप्रति) नंद चन्द्रगुप्त है, जो मुनिदीक्षा ग्रहण करके मुनिसघ के साथ आया था। श्रवणबेलागोला का पहले शासन का केन्द्र व्यक्ति भद्रबाहु स्वामी के सेवानिरत शिष्य (नद) चंद्रगुप्त नहीं बल्कि इसी शासन के कथानुसार प्रभाचंद्र हैं। इस शिलालेख के केन्द्र व्यक्ति जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं भद्रबाहु नाम कुंदकुंद आचार्य द्वारा साक्षात् अपने गुरू बताए गए भद्रबाहु नाम और जिनसेनाचार्य द्वारा तथा नंदि आम्नाय पट्टावली ई प्रति में आचारांग श्रुतधर के रूप में बताए गए भद्रबाहु नाम ये सब एक ही आचार्य के सूचक नाम हैं, ऐसा समझा जा सकता हैं।

भद्रबाहु स्वामि के बारे में और एक कथन पर यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है। देवसेनाचार्य विरचित भावसंग्रह में श्वेताम्बर पंथ का उत्पत्ति प्रसंग मे कहा गया है –

**"छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।**
**सोरट्ठे उप्पण्णो सेवइसंधो हु बलहीय ।। १३७।।**
**आसि उज्जेणिणयरे आइरिओ भद्बाहु णामेण ।**
**जाणिय सुणिमित्तधरो भणियओ संधो णिओ तेण ।। १३८।।**
**होहइ इह दुब्लिरक्खं बारसवरसाणि जाम पुण्णाणि ।**
**देसंतराइ गच्छह णिय जिय संघेण संजुत्ता ।। १३६।।**

राजा विक्रम के मरने के एक सौ छत्तीस वर्ष बाद सोरठ देश के वलभी नगर मे श्वेतपट सध की उत्पत्ति हुई थी। उसकी कथा इस प्रकार है। उज्जयिनी नगरी मे भद्रबाहु नाम के आचार्य थे । वे निमित्त शास्त्र को जानते थे। उन्होने अपने निमित्त शास्त्र से जानकर अपने संध से कहा कि इस देश मे बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पडेगा। इसलिये आप लोग अपने अपने सध के साथ दूसरे देशो मे चले जाओ। (इसके आगे गाहा नं १४० से १६० तक श्वेताम्बर पथ का उदय और इसके आचरण का कथन है।)

इस कथन के समान रीति से श्रवण बेलगोल के शासन सं. १ मे भी उज्जयिनी नगर स्थित अष्टांगनिमित्तज्ञ भद्रबाहुस्वामि निमित्तज्ञान से बारह वर्ष काल तक दुर्भिक्ष जानकर संघ को कहते है। अतः भावसंग्रह

और श्रवण बेलगोल के कथनों का मूलस्रोत एक ही होना चाहिए। इस शासन मे गौतमगणधरादि आठवें जो नाम भद्रबाहु है वह श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का सूचक है। इन का समाधिमरण वी.नि.सं १६२ में हुआ है। वह भावसंग्रह में कथित भद्रबाहुस्वामि का सूचक नही हो सकता क्योंकि भावसंग्रह में कथित भद्रबाहुस्वामि का काल राजा विक्रम के मरणानन्तर १३६ वर्ष (लगभग वी.नि.सं. ४७०+१३६=६०६ वर्ष) बताया गया है। इसी शासन में गौतमगणधरादि महापुरुष सन्तति मे संजात और एक भद्रबाहु स्वामि का निर्देशन है जो भावंसग्रह में निर्दिष्ट भद्रबाहु स्वामि से अभिन्न हो सकता है क्यों कि निमित्तज्ञातादि विशेषण इन्हीं के नाम से जुडा है। पहले बताया गया है कि ये भद्रबाहुस्वामी ही इस शासन के केन्द्र व्यक्ति है। नंदि आम्नाय पट्टावलि 'इ' पाठ से अन्य सब पाठों में संवत् ४ से १३ तक आचार्य पदस्थ एक भद्रबाहु स्वामी का निर्देशन है। यह संवत् (शालिवाहन) शक संवत् हैं जो वी.नि.सं. ६०६ में प्रारम्भ हुआ है। अतः यही भद्रबाहुस्वामि (वी नि.सं ४+६०६= ) ६१० से ६२३ तक आचार्य पद में थे और ये ही उपान्त्य आचारांग श्रुतधर थे। ये आचार्य भी भावसंग्रह मे निर्दिष्ट भद्रबाहु स्वामि से अभिन्न है। नन्दिपट्टावलि 'इ' पाठ के अनुसार इसी भद्रबाहु स्वामि के काल में मूल संघ से अलग होकर श्वेताम्बर पथ स्थापित हुआ। पहले बड्डाराधनादि कृतियो के भद्रबाहु स्वामि कथा में तथा श्रवण बेलगोल के शासन स०१ और अन्य स्रोतों के विश्लेषणात्मक विमर्शपूर्वक इस भद्रबाहु स्वामि संग्रह के ऐतिहासिकता का जो निरुपण किया गया है वह अब उपरि कथित भाव–सग्रह के कथा–प्रसग से कृत हुआ है।

भद्रबाहु नाम के श्रुतधर आचार्य के सबंध मे यह समीक्षा और श्रुतधर आचार्य का अनुक्रम बताने वाले श्रवणबेलगोला के १ क्रमाक के शिलालेख, तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, धवला टीका, महापुराण, इन्द्रनंदि आचार्य का श्रुतावतार, श्रवणवेलगोला के अन्य शिलालेख, मांघनन्दि आचार्य का शास्त्रसार तथा नंदि आम्नाय पट्टावली की ए०, बी०,सी०,डी०, ई० प्रतियॉ इन सब स्रोतों की खोजपूर्ण समीक्षा से श्रुतधर आचार्यो की अनुबद्ध अनुक्रमणिका इस प्रकार है :

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद

श्रुतधर प्रधान और मुनिसंघ की पदस्थ आचार्यानुक्रमणिका–
अनुबद्ध केवली

| | | समय–वर्ष | वी.नि.सं. |
|---|---|---|---|
| १.गौतम स्वामी | (१) | १२ | १२ |
| २.सुधर्म स्वामी | (२) | १२ | २४ |
| ३.जम्बू स्वामी | (३) | ३८ | ६२ |
| | कुल | | ६२ |

**अनुबद्ध श्रुतकेवली**

| | | | |
|---|---|---|---|
| *१ नंदि विष्णु* | *(४)* | *१४* | *७६* |
| *२.देव–नदिमित्र* | *(५)* | *१६* | *९२* |
| *३.अपराजित* | *(६)* | *२२* | *११४* |
| *४.गोवर्धन* | *(७)* | *१९* | *१३३* |
| *५.भद्रबाहुस्वामी* | *(८)* | *२९* | *१६२* |
| | कुल | १०० | |

**अनुबद्ध दशपूर्वी**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ विशाखाचार्य | (९) | ४७ | २०९ |
| २.प्रोष्ठिल | (१०) | १५ | २२४ |
| ३.क्षत्रिय | (११) | १७ | २४१ |
| ४.आर्य | (१२) | १० | २५१ |
| ५ जय (सेन) | (१३) | २१ | २७२ |
| ६ नाग (सेन) | (१४) | १८ | २९० |
| ७ सिद्धार्थ | (१५) | १७ | ३०७ |
| ८.धृतिसेन | (१६) | १८ | ३२५ |
| ९ बुद्धिल | (१७) | २० | ३४५ |
| | कुल | १८३ | |

**अनुबद्ध एकादशांग श्रुतधर**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १.धर्मसेन | (१८) | १६ | ३६१ |
| २.नक्षत्र | (१६) | १८ | ३७६ |
| ३.जयपाल | (२०) | २० | ३६६ |
| ४.पाण्डु | (२१) | ३६ | ४३८ |
| ५.ध्रुवसेन | (२२) | १४ | ४५२ |
| ६.कंस | (२३) | ३२ | ४८४ |
| | कुल | १३६ | |

**अनुबद्ध दश-नव-अष्ट अंग श्रुतधर**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. विजय | (२४) | १३ | ४६७ |
| २. यशोभद्र | (२५) | १६ | ५१३ |
| ३. (द्वि) भद्रबाहु | (२६) | ५२ | ५६५ |
| | कुल | ८१ | |

एकादशांग और दश–नव–अष्ट अंग श्रुतधरों का कुल समय

१३६ + ८१ = २२०

**अनुबद्ध आचारांग श्रुतधर**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १.सुभद्र | (२७) | ६ | ५७१ |
| २.जयभद्र | (२८) | २१ | ५६२ |
| ३.यशोबाहु | (२६) | १८ | ६१० |
| ४ (तृ) भद्रबाहुस्वामी | (३०) | २३ | ६३३ |
| ५.लोहार्य – धरसेन | (३१) | ५० | ६८३ |
| | कुल | ११८ | |

इस उपर्युक्त श्रुतधर आचार्यो की अनुक्रमणिका के बारे में स्पष्टीकरण आवश्यक है। अनुबद्ध केवली और श्रुतकेवलियों के बारे में सभी स्रोतों में एकरूपता है, मात्र दूसरे श्रुतकेवली का नाम श्रवणबेलगोला के पहले क्रमांक के शिलालेख के आधार पर 'देव' समझा गया है। इसी

शिलालेख और नंदि आम्नाय पट्टावली ई प्रति की समीक्षा के साथ दशपूर्व श्रुतधरों का अनुक्रम दिया गया है। जिनका शिलालेख में उल्लेख ही नहीं है ऐसे विजय और (गंग) देव नाम अन्य स्रोतों में समाविष्ट होने के कारण दशपूर्वियों की संख्या का ग्यारह दिखाई देता है। संभवतः दूसरे चतुर्दशपूर्वी 'देव' नाम को बाद में दशपूर्वियों में स्थान दिया गया है– ऐसा मालूम होता है। नंदि आम्नाय पट्टावली 'ए' और 'सी' पा.भे. में 'देव' नाम है और 'गंगदेव' का नहीं होना प्रस्तुत प्रसग मे ध्यान देने योग्य है।'विजय' यह नाम मूलरूप से दश अंग श्रुतधरों का होगा। ऐसा समझा जा सकता है। एकादशांग श्रुतधर आचार्यो को नंदि आम्नाय पट्टावली 'ई' पा.भे. से अन्य सब स्रोतो में पॉच गिनकर इनका कुल समय २२० वर्ष बताया गया है। नंदि आम्नाय पट्टावली 'ई' पा.भे. में गगदेव को मिलाकर छह आचार्यो को एकादशांग श्रुतधर गिनाया गया है। पॉच आचार्यो के कुल समय '२२०' वर्ष की गणना असंभव नहीं है– यह तो सही है पर अन्य सब समूहो के कुल समय की गणना पर विचार करने पर '२२०' वर्षों की गणना की संभावनीयता पर प्रश्न उठता है। इसलिए नदि आम्नाय पट्टावली की पा.भ.दो. में बताए गए दश, नव, अष्ट अंग श्रुतधरो की कालगणना मूलरूप से इसमे सम्मिलित है और मतभेदों के कारण इन दश, नव, अष्ट अंग श्रुतधरो की परिगणना अन्य स्रोतों में छूट गयी होगी– ऐसा कहा जा सकता है। पीछे भद्रबाहुस्वामी नाम के आचार्यो के इतिवृत्तो की समीक्षा कर वहॉ (द्वि.) भद्रबाहुस्वामी की ऐतिहासिकता को स्पष्ट किया गया है। इन्हे नं.आ. पट्टावलियो में स्पष्टरूप से अष्ट अगश्रुतधर ही कहा गया है। अब सभवनीय रूप से दश और नव अंग श्रुतधरो को समझने का प्रयास किया जा सकता है।

श्वेतांबर आम्नाय के श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी का इतिवृत्त शकपुरूष विक्रमादित्य के समकालीन आचार्य का इतिवृत्त है– यह पीछे कह आए हैं। नंदि आम्नाय पट्टावली की पा.भ. में कहे गए विक्रमादित्य के जन्म आदि प्रसंगों के आधार से इनका शासन वी.नि.स. ५५० में समाप्त हुआ है– ऐसी गणना बनती है। ऊपर दर्शाए गए श्रुतधर आचार्यो के अनुक्रम के अनुसार (द्वि) भद्रबाहुस्वामी वी.नि.सं. ५१३ के बाद ५६५ तक प्रधान

आचार्य थे। इसलिए ये विक्रमादित्य के समकालीन थे– यह स्पष्ट होता हैं। श्वेतांबर आम्नाय में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के गुरू यशोभद्रस्वामी थे। नंदि आम्नाय, पट्टावली पा. भं.दो. में अष्ट अंगश्रुतधर भद्रबाहुस्वामी से पूर्व नव अंगश्रुतधर 'यशोभद्र' का ही नाम है। इसलिए इन्हें नव अंगश्रुतधर गिनना उचित है श्रवणबेलगोला के पहले शिलालेख से अन्य सभी स्रोतों में दशपूर्वी समूह में गिना गया 'विजय' नाम संभवतः दश अंग श्रुतधर आचार्य का नाम होगा ऐसा पीछे कह आए हैं। इसके अतिरिक्त श्वेतांबर आम्नाय में (संभूति) विजय को श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के ज्येष्ठ भ्रातृगुरू के रूप में गिना जाना प्रस्तुत प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। नंदि आम्नाय पट्टावली पा.भ. में (द्वि) भद्रबाहुस्वामी के बाद 'लोहार्य' नाम है। लेकिन यहाँ इन्हें अष्ट अंगश्रुतधर या सप्त अंगश्रुतधर गिना जाना चाहिए– यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्राय· नंदि आम्नाय पट्टावली रचयिताओं को आचारांग श्रुतधर आचार्यों के निरूपण में कारणान्तरों से समस्या उत्पन्न हुयी है। इस कारण से अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यो को आचारांग श्रुतधर माना है। इससे ऐसा लगता है कि मूलरूप से भद्रबाहु स्वामी के नाम के बाद आने वाले लोहाचार्य नाम को (द्वि) भद्रबाहुस्वामी के नाम के बाद जोडा गया है। आचारांग श्रुतधरों का अनुक्रम बताने में नंदि आम्नाय पट्टावली में विप्रतिपत्ति या भ्रम उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा जा सकता है। अर्हद्बलि आदि पाँच आचारांग श्रुतधरों के अनुक्रम के बाद मूलसंघ पट्टावली आरंभ होती है। यहाँ "तैटा पाछै अवै श्री मूलसंघ का पाटवर्णन कीजे छै।। श्री महावीररस्यूँ वर्ष ६८३ पाछै विक्रमादित्य को जन्म हुवौ।। सुभद्राचार्यसुँ वर्ष–२ विक्रम जन्म अर राज्य विक्रम की स्यूँ वर्ष ४ भद्रबाहु जी पाटि बैठा।। भद्रबाहु शिष्य गुप्तिगुप्त (पाठान्तर–गुप्ति गुप्ति, गुप्तगुप्ति) तस्य नामत्रयं। गुप्तिगुप्त–१, अर्हद्बलि–२, विशाखाचार्य–३, तस्य चत्वारि शिष्य। नन्दिवृक्षमूलेन वर्षायोगो धृतः सह (सः) माघनन्दिः, तेन नन्दिसंघ· स्थापित·। जिनसेन नाम (तेण तृणतले वर्षायोगो धृतः सेन संघ स्थापितः) वृषभ तेन वृषभसंघः स्थापितः, येन सिंहगुहायां वर्षायोगों स्थापितः। सह (सः) सिंहसंघ स्थापितवान्। यो देवदत्ता वेश्या गृहे वर्षायोगो स्थापितवान्। सह (सः) देवसंध चकार" (इत्यादि)।

इस प्रकार आगे नं.आ. पट्टावली में भद्रबाहुस्वामी के शिष्य को अर्हद्बलि (गुप्तगुप्ति) कहा गया है। पहले भद्रबाहुस्वामी के बाद लोहाचार्य का नाम देकर उनके ५० वर्ष तक आचार्य पद के बाद वी.नि.सं. ५६५ में अहिवल्लि अर्हद्बलि) ने आचार्य पद प्राप्त किया ऐसा कहा है। इसके अलावा बाद के कथन में अर्हद्बलि के बाद माघनन्दि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्दाचार्य आदि का अनुक्रम कहा गया है, लेकिन पहले माघनन्दि के बाद धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि के नाम दिए गए थे। इस प्रकार मात्र कालगणना में ही नहीं बल्कि आचार्यानुक्रम बताने में भी भ्रम पैदा होना स्पष्ट है। यह भ्रम (शालिवाहन) शक संवत् को विक्रम संवत् समझने से हुआ है। इतने पर भी इतिहास की दृष्टि से इसकी अपनी विशेषता है इसलिए इसकी मीमांसा आगे की जाएगी।

अष्ट अंगश्रुतधर भद्रबाहुस्वामी का आचार्य पद का समय वी.नि.स. ५६५ में समाप्त हुआ है। सब स्रोतों के अनुसार श्रुतधर आचार्यनुक्रम वी. नि.स. ६८३ को समाप्त होना चाहिए। इसलिए नंदि आम्नाय पट्टावली पा. भ. से अन्य स्रोतों में निरूपित आचारांग श्रुतधरों का अनुक्रम तथ्यनिष्ठ (वास्तविक) सिद्ध होता है। लेकिन इन आचारांग श्रुतधरों की संख्या के संबंध में नन्दि आम्नाय पट्टावली में दिखाई देने वाली गाहा[८०] पूर्वकालीन स्रोतों से उल्लिखित दिखाई देती है। इसलिए पाँच आचारांग श्रुतधरों का अनुक्रम यहाँ बताया गया है। उक्त सभी अन्य स्रोतों में सुभद्र आचार्य को प्रथम आचारांग श्रुतधर बताया गया है। तिलोयपण्णपत्ति, धवला, महापुराण, श्रुतावतार में द्वितीय आचारांग श्रुतधर को यशोभद्र बताया गया है। हरिवंशपुराण में जयभद्र नाम है और श्रवणबेलगोला के शिलालेख (सं. १५४) में भी यही नाम है। लेकिन इन स्रोतों में दश, नव, अष्ट अंगधरों को न मानने से पूर्वोक्त प्रकार से नव अंगधर यशोभद्र को ही इन स्रोतों में द्वितीय आचाराग श्रुतधर बताए जाने की संभावना है। तृतीय के रूप में 'यशोबाहु' को आदिपुराण और श्रुतावतारों के अतिरिक्त सब स्रोतों में बताया गया है। आदिपुराण में 'भद्रबाहु' नाम है, और श्रुतावतार में 'विजयबाहु' नाम है। आचारांग श्रुतधरों में भद्रबाहु नाम के आचार्य होने की संभावना पीछे की गई समीक्षा से स्पष्ट हो चुकी है। इन सब स्रोतों में

लोहाचार्य को अन्तिम आचारांग श्रुतधर गिनाया गया है। इस समीक्षा के अनुसार सुभद्र, जयभद्र, यशोबाहु, भद्रबाहु और लोहार्य इन पॉच को आचारांग श्रुतधरों के रूप में पीछे दिए गए श्रुतधर आचार्यानुक्रम में बताया गया है। श्रुतधर आचार्यानुक्रम में दिए गए आचार्य वर्ग के समष्टिकाल हो या प्रत्येक आचार्य के आचार्यपद से संबंधित कालगणना हो सब के तिलोयपण्णत्ति आदि मूल स्रोतों के आधार हैं। विशेषरूप से प्रत्येक आचार्य के आचार्यपद से संबंधित काल गणना के लिए नंदि आम्नाय पट्टावली आधार है। लेकिन अष्टअंग श्रुतधर की बताई गई २३ वर्ष की काल गणना को आचारांग श्रुतधर भद्रबाहुस्वामी के समय के रूप में, लोहाचार्य के नाम से बताए गए समय को अष्ट अंगश्रुतधर समय के रूप में परिवर्तित किया गया है। इस प्रकार पूर्व स्रोत के आधार से श्रुतधर आचार्यानुक्रम बनाया गया है और यह सर्वथा काल्पनिक नहीं है। इतने पर भी यही सच है ऐसा कहना धृष्टता होगी, यह विद्वानों, विशेषज्ञों, पण्डितों के अनुशीलन का विषय है।

## अर्हद्बलि स्वामी द्वारा मुनिसंघ की स्थापना

जैनधर्म के इतिहास में वह एक पर्वकाल था। तब तक एक ही संघ रूप में चला आया निर्ग्रंथ मुनिसंघ टूटकर दिगंबर और श्वेतांबर नामों से विभाजित हुआ। पूर्व परम्परा से प्राप्त धर्मबद्ध आचरण की मौलिकता के मूलस्वरूप की रक्षा करने का दायित्व दिगंबर पंथ पर पडा। इसके लिए मुनिसंघ में सुसंघटित व्यवस्था करने की आवश्यकता बनी। इस कार्य को समर्थरूप से अर्हद्बलिस्वामी ने सम्पन्न किया। इनके द्वारा सम्पन्न इस कार्य की अतिशयता के कारण बडे आदर के साथ इनकी स्तुति करने के लेख मिलते हैं।

पीछे कहा गया है कि नंदि आम्नाय पट्टावली में (अष्ट? सप्त?) अंगश्रुतधर लोहाचार्य के बाद अर्हद्बलि स्वामी को प्रथम आचरांग श्रुतधर के रूप में बताया गया है। इसके बाद नंदि सघ की आचार्य अनुक्रमणिका में भद्रबाहु स्वामी के अनंतर गुप्तगुप्ति अर्हद्बलि स्वामी को बताया गया है। यह एक समस्या है कि अर्हद्बलि स्वामी लोहाचार्य के बाद हुए या

भद्रबाहुस्वामी के बाद? और पहले यह भी बताया गया है कि अर्हद्बलि स्वामी के गुप्तगुप्ति और विशाखाचार्य ऐसे और दो नाम थे।

श्रुतावतार में कहा है कि सर्वांगपूर्व देशैकदेश के ज्ञाता अर्हद्बलि मुनि पूर्वदेश के मध्य में स्थित पुण्ड्रदेश में पैदा हुए। अष्टांगनिमित्तज्ञ, संघानुग्रह—विनिग्रह समर्थ उन्होंने पाँच सवत्सरों के अंत में जब युगप्रतिक्रमण के लिए उद्युक्त हुआ तब युगप्रवर्तक प्रतिक्रमण के अवसर पर मुनि समाज में संघों की व्यवस्था की आवश्यकता है, ऐसा महसूस कर उस प्रकार संघों की स्थापना की। इससे आगे संघों की स्थापना कैसे हुई इसके बारे में पूर्वकालीन कथनानुसार कहा गया है। इसके अन्त में आने वाला श्लोक ध्यान देने योग्य है।

**एवं तस्यार्हद्बलेः मुनिजनसंघप्रवर्तकस्यासन् ।**
**विनेयजना मुनीन्द्रा पञ्च-कुलाचारतोपास्याः ।।**

इस प्रकार मुनियों के संघ के प्रवर्तक उस अर्हद्बलि को पंच कुलाचार से उपास्य मुनीन्द्र शिष्य थे।

नंदि आम्नाय पट्टावली 'सी' पा.भे. में 'इन्द्रनन्दि सिद्धान्ति ने नीतिसार में कहा है' - ऐसा कहकर 'अर्हद्बलि गुरू ने अच्छी तरह से संघ की स्थापना की' इस अर्थ के श्लोक का उल्लेख किया है।[८१]

पाक्षिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत गुरू नामावली में 'थोसामि' इत्यादि के बाद –

**श्रीमानशेषनरनायकवंदितांघ्रिः**
**श्रीगुप्तगुप्ति इति विश्रुत-नामधेयः ।**
**यो भद्रबाहु - मुनिपुंगव - पट्ट - पद्म**
**सूर्यः स वो दिशतु निर्मल-संघ-वृद्धिम् ।।**

कहकर गुप्तगुप्ति आचार्य की स्तुतिकर आगे मूलसंघ से उत्पन्न नन्दिसंघ के माघनन्दि आदि आचार्य परम्परा बताई गई है।

इन उपुर्यक्त उल्लेखों से अर्हद्बलि गुप्तगुप्ति स्वामी का भद्रबाहु स्वामी के बाद आचार्यपद पर आरूढ़ होना स्पष्ट होता है। यहाँ पर बताए गए भद्रबाहु स्वामी आचारांग श्रुतधर भद्रबाहुस्वामी ही हैं– ऐसा समझना होगा। नंदि आम्नाय 'ई' पट्टावली में कहा है कि तृतीय भद्रबाहुस्वामी के समय में श्वेतांबर (मूल) संघ से बाहर जाकर अपनी स्वतंत्र पट्टावली बना ली। पूज्य नथमल मुनि के कथनानुसार दिगंबर पंथ वी.नि.सं. ६०६ के बाद बना और श्वेतांबर पंथ वी.नि.सं. ६०६ में बना है।[८२] जैसा कि देवसेनाचार्य के दर्शनपाहुड में कहा है, विक्रम की मृत्यु के बाद १३६ में भद्रबाहु गणी के शिष्य शांति आचार्य के शिष्य जिनचंद्र से श्वेतांबर पंथ बना है।[८३] वी.नि.सं. ६१० में आचारांग श्रुतधर (तृ) भद्रबाहुस्वामी आचार्य पद पर आरूढ़ हुए और इनके समय में श्वेतांबर मूलसंघ से बाहर जाकर स्वतंत्र पट्टावली बना ली। जो नंदि आम्नाय पट्टावली 'ई' प्रति का कथन है वह प्रामाणिक है यह स्पष्ट होता हैं । इसी प्रकार इस भद्रबाहुस्वामी के बाद आचार्य पद पर आरूढ अर्हद्बलि गुप्तगुप्ति स्वामी से मुनिसंघ के संगठन की जो व्यवस्था हुई इससे ऐतिहासिक तथ्य की सत्यता भी स्पष्ट होती है। अगर इस (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद अर्हद्बलिस्वामी आचार्य पद पर आरूढ़ हुए हैं तो इन्ही भद्रबाहुस्वामी के बाद में बताये हुए आचारांग श्रुतधर लोहाचार्य के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है। परन्तु थोड़ा भी पूर्वापर विचार करने पर यह कोई बड़ा कठिन प्रश्न नहीं रहता। (तृ) भद्रबाहुस्वामी तक मुनि संघ के आचार्य ही अनुबद्ध श्रुतधारक बने रहते थे । लेकिन (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद उस समय उद्भूत परिस्थिति के कारण अर्हद्बलि गुप्तगुप्ति स्वामी मुनिसंघ के आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए हैं।' अष्टांगनिमित्तज्ञः संघानुग्रहविनिग्रहसमर्थः इस प्रकार की स्तुतिपरक उक्तियों से ये (तृ) भद्रबाहुस्वामी के कनीयान साधर्मी भाई बनकर मुनिसंघ में अधिक आदर सम्मान प्राप्त कर प्रभावशाली थे, ऐसा ज्ञात होता है। इसलिए (तृ) भद्रबाहुस्वामी ने अपनी आयु के अन्तिम समय में सल्लेखना लेते समय अर्हद्बलि स्वामी को मुनिसंघ का प्रधानाचार्य बनाया। इस समय लोहाचार्य छोटे उम्र वाले थे। इसके अलावा (तृ.) भद्रबाहुस्वामी से श्रुत का उपदेश प्राप्त करने वालों में अन्तिम थे और गुरू के बाद ये ही अनुबद्ध श्रुतधारक बने। इस समीक्षा के अनुसार (तृ.) भद्रबाहुस्वामी के

बाद मुनिसंघ के प्रधान आचार्य के रूप में अर्हद्बलि–गुप्तगुप्ति स्वामी का नाम और श्रुतधारक के रूप में लोहार्य के नाम अनुश्रुति में चले आए हैं। लेकिन समय बीतने पर यह भ्रम का कारण बना। इस कारण से नंदि आम्नाय पट्टावलीकार ने एक तरह से ठीक करने (सुधारने) का प्रयत्न कर लोहाचार्य के नाम को अष्ट अंग श्रुतधर (द्वि) भद्रबाहुस्वामी के बाद स्थान दिया है। लोहाचार्य के बाद अर्हद्बलि स्वामी से आरंभ होने वाले आचारांग श्रुतधरों के नाम दिए हैं। इसके बावजूद मुनिसंघ की आचार्य परम्परा बताने में भद्रबाहुस्वामी का नाम पहले देकर उनके बाद गुप्तगुप्ति अर्हद्बलि स्वामी का नाम नंदि आम्नाय पट्टावलि में दिया गया है। इससे नंदि आम्नाय पट्टावलीकार का भ्रम स्पष्ट होता है । लेकिन नंदि आम्नाय पट्टावली से अन्य सब स्रोतों में श्रुतधर आचार्य परम्परा में लोहाचार्य को ही अन्तिम श्रुतधर आचार्य बताया गया है, इसको ध्यान में रखना चाहिए।

श्रुतावतार और नन्दि आम्नाय पट्टावली में अर्हद्बलि स्वामी द्वारा मुनिसघ को सगठित किए जाने के लिए किए गए कार्य विवरण का उल्लेख है। श्रुतावतार में 'उक्तं च' कहकर आगे के श्लोकों का उल्लेख किया गया है

**आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद् ।**
**देवाश्चान्येऽपराजित इति यतिपसेन-भद्राह्वयौ च ।।**
**पञ्चस्तूपात्सगुप्ता गुणधर वृषभो शाल्मलीवृक्षमूलात् ।**
**निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात् खण्डपूर्वात्।।**

**गुहायां वासिको ज्येष्ठो द्वितीयोऽशोकवाटकात् ।**
**निर्यातौ नन्दिदेवाभिदानावाख्यावनुक्रमात् ।।**
**पञ्चस्तूपास्तु सेनानां वीराणां शाल्मलीद्रुमः ।**
**खण्डकेसरनामा च भद्रसंघ समो मतः ।।**

उपर्युक्त श्लोकों मे 'नन्दि, वीर, देव, अपराजित, सेन, भद्र, गुप्त, गुणधर, वृषभ, सिह, चन्द्र, नामो का उल्लेख हुआ है। अर्हद्बलिस्वामी द्वारा मुनिसघ को सगठित करते समय मुनि सघ या गणों को इन नामों का

प्रयोग किया गया होगा– ऐसा समझा जा सकता है। अर्हद्बलिस्वामी के पश्चात् इन नामों के शब्दों का प्रयोग अन्त्य पदवाले मुनियों के नामों में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ माघनन्दि, अकलंकदेव, धरसेन, वादिसिंह, शुभचन्द्र इत्यादि देखे जा सकते हैं। इसके अलावा नन्दि आम्नाय पट्टावली से इस बारे में थोड़ी विशेष जानकारी की ओर ध्यान दिया जा सकता है: नन्दि आम्नाय पट्टावली 'सी' पा.भें. में कहा है सेनसंघ, सिंहसंघ, देवसंघ की पट्टावलियाँ अलग अलग हैं। सेनसंघ में 'जिनसेन आदि, इसी प्रकार सर्वत्र आचार्यों की पट्टावलियॉ अलग–अलग हैं। उनके संबंध में सेनसंघ में राज, वीर, भद्र, सेन ऐसे चार नाम हैं, इसी प्रकार सिंह, कुंभ, आश्रव, सागर ये सिंहसंघ में हैं और देव, दत्त, नाग, लंग (तुंग) ये देवसंघ के नाम कहे गए हैं।'

'अब पीछे कह आए सेनसंघ पुष्करगच्छ सूरस्थ गण में है ऐसा समझना चाहिए, सिंहसंघ चंद्रकपाटगच्छ कणूरगण में है, देवसंघ पुस्तकगच्छ देशीगण में है।'

पूर्वोक्त नंदिसंघ के बारे में – नंदिसंघ, पारिजातगच्छ, एकबलात्कारगण, चार मुनियों के नाम – नंदि, चंद्र, कीर्ति, भूषण । इसी प्रकार श्रीमूलसंघ नंद्याम्नाय, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण में पूर्वोक्त नदि, चंद्र, कीर्ति, भूषण इस प्रकार चार मुनियों के नाम हैं तदुक्तं –

**नंदी चंदो कित्ती भूषण णामा हि णंदि संघस्स ।**
**सेणो राजो वीरो भद्दो तह सेणसंघस्स ।।**
**सिंहो कुंभो आसव सायर णामा हि सिंहसंघस्स ।**
**देवो दत्तो णागो लंगो तह देवसंघस्स ।।**

यहाँ बताए गए नंदि, सागर इत्यादि कुछ शब्दों से अन्त्य होने वाले नाम आज भी दिगंबर मुनि के होते हैं, यह तो सब जानते ही हैं।

अर्हद्बलि स्वामी ने उपरोक्त प्रकार से, मुनियों के संघ, गण इत्यादि की स्थापना द्वारा मुनिसंघ को संगठित किया है, यह स्पष्ट है। लेकिन ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता आखिर क्यों उत्पन्न हुई–

इसकी समीक्षा की जानी चाहिए। (तृ) भद्रबाहुस्वामी के समय निर्ग्रन्थ संघ दिगंबर और श्वेतांबर नाम से विभक्त होने के बारे में इन दोनों सम्प्रदायों में प्रमाण होने का उल्लेख पीछे स्पष्ट कर आए हैं। इस परिस्थिति में दिगंबर पंथ को स्वीकार करने वाले मुनि कौन हैं और श्वेतांबर पंथ को मानने वाले मुनि कौन हैं– इस सन्दर्भ में स्पष्ट जानकारी की आवश्यकता थी। श्वेतांबर पंथ में जिनकल्पी और स्थविरकल्पी ऐसे दो सम्प्रदाय हैं। उनमें जिनकल्पी समूह अचेलक थे और दिगंबर पथ के साथ उनके आचार–विचार निकटवर्ती (मिलते–जुलते) थे इसलिए इस समूह के कुछ मुनि दिगंबर पथ मे आए हैं। आर्य महागिरि से प्रवर्तित जिनकल्पी मुनि परम्परा मे आर्यभंक्षु और नागहस्ति आचार्यों को जितनी श्वेतांबर पंथ में मान्यता प्राप्त है उससे भी अधिक दिगबर पंथ में मान्यता है। इन्होने गुण धर आचार्य से कषायपाहुड का उपदेश प्राप्त कर यतिवृषभस्वामी को उसका उपदेश दिया है। दिगबर पंथ में द्वितीय आगम की मान्यता पाकर षट्खण्डागम की तरह अधिक मान्यता प्राप्त कषायपाहुड को आगम सुरक्षित रखने मे इन दो आचार्यों का अधिक योगदान है। ये मूलत. श्वेतांबर जिनकल्पी समूह के थे और बाद में इन्होने दिगंबर पंथ स्वीकार किया है– इसमे कोई सदेह नहीं है। इसी प्रकार मूलरूप से जिनकल्पी समूह के होकर दिगबर पथ को स्वीकार करने वाले एक और आचार्य हैं– आर्य वज्रस्वामी। तिलोयपण्णत्ति में अंतिम प्रज्ञाश्रमण के रूप मे बताए गए वज्रयश नाम के आचार्य से आर्य वज्रसूरि के अभिन्न होने की संभावना मान्य डॉ हीरालाल जैन ने व्यक्त की है।[८५] षट्खण्डागम के धवला टीका के रचनाकार वीरसेनाचार्य ने अपने सम्मुख स्थित षट्खण्डागम के सूत्रो मे और पूर्वकालीन टीकाओं के बीच कई स्थानों में विरोध देखकर उनके बारे मे चर्चा की है। इसी प्रकार दक्षिणप्रतिपत्ति और उत्तरप्रत्तिपत्ति– स्रोत बताकर इनमें दक्षिणप्रतिपत्ति का सरल, सुस्पष्ट और आचार्य परंपरा नुसृत होना और उत्तरप्रतिपति का उसके विपरीत होना कहा है।[८६]

इनका मूल क्या है– यह समस्या है। लेकिन वड्डाराधने (कन्नड) और बृहत्कथाकोश के भद्रबाहु कथानको में आए एक ऐतिह्य प्रसंग में इस समस्या का समाधान देखा जा सकता है । महापद्मनंद द्वारा

निर्ग्रन्थ मुनिसंघ के संचार पर तीव्र प्रतिबंध के कारण श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने ससंघ दक्षिणापथ प्रयाण किया और इनके द्वारा मुनिसंघ के प्रधान आचार्य के रूप में नियोजित विशाखाचार्य के अपने मुनिसंघ के साथ लंबे समय तक दक्षिणापथ में ही रहने के प्रसंग को पीछे कह चुके हैं। नन्दचन्द्रगुप्त द्वारा मुनिदीक्षा लेकर मुनिसंघ में सम्मिलित होकर चले जाने के बाद, महापद्मनंद मगधदेश का सार्वभोम बना। इस महापद्मनंद और इसके पुत्रों का शासन लगभग ४५ वर्ष तक रहा। इन नंदों का शासन मौर्य चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के साथ समाप्त होने के बाद उत्तर भारत में पीडादायक दुष्काल समाप्त हुआ।" इसे जानकर विशाखाचार्य ने मुनिसंघ के साथ उत्तरापथ को प्रयाण किया। वहाँ पर दुष्काल के कारण शिथिलाचारी हुए मुनिसंघों में कुछ मुनिसंघों के मुनि प्रायश्चित लेकर विशाखाचार्य के नेतृत्व वाले मुनिसंघ में सम्मिलित हुए ऐसा भद्रबाहु कथानक मे कहा गया है। मूल निर्ग्रथ संघ से अलग होकर लंबे समय तक उत्तर भारत में रह रहे इन मुनिसंघों में दुष्काल के कारण न केवल शिथिलाचार उत्पन्न हुआ बल्कि इनमें प्रवर्तित परंपरागत आगम के प्रकरण और उनकी भाषा में भी आंशिक रूप से विपर्यय उत्पन्न हुआ। ये मुनिसंघ विशाखाचार्य के नेतृत्व वाले भुनिमहासंघ में सम्मिलित होने के बाद भी पहले बने आगम प्रकरण और भाषा के आंशिक विपर्यय को छोड नहीं सके, इससे समय बीतने पर विशाखाचार्य संघ का आगम दक्षिणप्रतिपत्ति और दुष्काल में उत्तरभारत में रहने के बाद विशाखाचार्य के नेतृत्व के मुनिमहासंघ में सम्मिलित मुनिसंघों के मूल का आगम उत्तर प्रतिपत्ति कहलाया, ऐसा समझ सकते है। इसके अलावा यह भी कह सकते हैं कि दिगबर आगम कृतियों में दिखाई देने वाले श्वेतांबर आगम की कुछ आर्ष भाषा प्रयोगों के लिए भी इस उत्तरप्रतिपत्ति का प्रभाव ही कारण है; इसके अलावा यह भी कह सकते हैं कि (तृ) भद्रबाहुस्वामी के समय दिगंबर मुनिसंघ में सम्मिलित जिनकल्पी मूल के मुनियों के आगम संबंधी आंशिक विचारों का भी प्रभाव है।

दिगबर पंथ में इस समय अगीकृत साहित्य में कुछ विषयों में भिन्नता वाला दो प्रकार का साहित्य देखा जा सकता है। ऐसे भिन्न मार्ग

के साहित्य को मान्य नाथूराम प्रेमी ने यापनीय पंथ का साहित्य बताया है। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता को श्वेतांबर पंथ वाले अपने पंथ का आचार्य और दिगंबर पंथ वाले अपने पंथ का आचार्य बताते है। इन दोनों पंथों के बीच का वाद–विवाद सर्वविदित ही हैं। इस संबंध में मान्य नाथूराम प्रेमी जी ने अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए 'इस आचार्य को यापनीय सघ का बताया है।'[८७] इस बारे में प्रासंगिक रूप से विचारणीय एक दो बाते बता देना अप्रासगिक नहीं होगा।

जैन सैद्धान्तिक साहित्य मे केवली मुक्ति, सचेलमुक्ति या स्त्रीपर्याय मे मुक्ति बताने वाले अश श्वेतांबर और यापनीय पंथों के धार्मिक साहित्य के परिचायक मुख्य लक्षण हैं। ऐसे लक्षणो से रहित सिद्धान्त कृति को श्वेताबर या यापनीय पथ की कृति निर्णयात्मक रूप से नही कह सकते। इस तथ्य का पर्यवसान वाद–विवाद में ही होगा। मान्य प. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सन् १९५५ मे सम्पादित सर्वार्थसिद्धि में इस संबंध मे विस्तृत विचार कर तत्त्वार्थसूत्र दिगंबर पथ का है ऐसा सिद्ध किया है।[८८] इसके बावजूद मान्य सुखलाल जी ने फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री जी के विचार पर ध्यान न देकर श्वेतांबर पंथ के उसी पुराने वाद को अपने द्वारा विवेचित तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना मे प्रस्तुत किया है।[८९] गृद्धपिच्छाचार्य इस तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकार है। यह ऐतिहासिक तथ्य कितना प्राचीन है इनके मुख्य प्रश्नो में से एक है। लेकिन इस समय धवला टीका में[९०] इस नाम का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण यह प्रश्न ही नहीं रहता। प्रस्तुत प्रसग मे मुख्यरूप से मान्य नाथूराम प्रेमी के अभिप्राय के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता क्या यापनीय सघ के हैं? यह प्रश्न है। तत्त्वार्थसूत्र कम से कम विक्रमसवत् तीसरी शताब्दी का माना गया है। दिगंबर और श्वेतांबर पंथो का भेद विक्रम सवत् १३६ या १३९ में हुआ है। ऐसा पीछे कह आए है। देवसेन आचार्य ने अपने दर्शनसार मे श्वेतांबर संघ के प्रवर्तन के बाद २०५ वे वर्ष मे यापनीय सघ का उदय हुआ, ऐसा कहा है।[९१] इसके अनुसार यापनीय सघ का उदय (१३९ + २०५) वि सं ३४४ में अर्थात् चतुर्थ शताब्दी मे हुआ है ऐसा मालूम पडता है। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता यापनीय पंथ के है– ऐसा मान्य नाथूराम प्रेमी जी का निर्णय

सर्वथा असंगत है– ऐसा सिद्ध होता है। लेकिन यह मानना उचित है कि गृद्धपिच्छाचार्य दिगंबर पंथ में विलीन हुए जिनकल्पी पंथ के आचार्य थे। मान्य नाथूराम प्रेमी ने मूलाराधना भगवती आराधना के कर्त्ता शिवार्य को भी यापनीय पंथ का कहा है।[६२] परन्तु इस ग्रंथ में उपरोक्त प्रकार से 'यापनीय' कहे जाने वाले केवलीमुक्ति, सचेलमुक्ति, स्त्री पर्याय में मुक्ति बताने वाला कोई अंश नहीं है। 'शिवार्य को अपना गुरू बताने वालों में किसी एक का भी नाम दिगंबर पट्टावली आदि में न होने के आधार पर इन्हें यापनीय पंथ का कहा है।' यह एक विचित्र कथन है। पूर्ववर्ती सब आचार्यों का सब दिगंबर इतिवृत्तों में नामोंल्लेख करना क्या संभव है? इसके अलावा शिवार्य (शिवकोटिआचार्य) का पूर्वकविप्रस्तुति (प्रशस्ति) में जिनसेनाचार्य ने महापुराण में नामोल्लेख किया है।[६३] यह उनके बारे में दिगंबर पंथ की मान्यता आदरभाव का सूचक है। मान्य नाथूराम प्रेमी ने अपने कथन के समर्थन में "आराधना की ४२५वीं गाहा में आचारांग और जीतकल्प ग्रंथों का उल्लेख है" ऐसा बताया है। यह अंश इस के अभिप्राय का पोषक है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। श्रुतधर आचार्य परम्परा में सब अंगश्रुत का एकदेश ज्ञान था ऐसी परम्परानुगत अनुश्रुति है, यह तो मालूम ही है। इससे ऐसा कह सकते हैं कि शिवार्य को आचारांग जीतकल्प की एकदेश रूप में जानकारी थी और उसी को इस गाहा में सूचित किया है। इससे इन्हें यापनीय पंथ के नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत ये जिनकल्पी मूल के आचार्य थे, इसकी पुष्टि होती है। इसी प्रकार द्वात्रिंशत– द्वात्रिंशिका तथा सम्मइसुत्त के कर्त्ता सिद्धसेन, पद्मचरित के कर्त्ता रविषेण और हरिवंशपुराण के कर्ता पुन्नाट जिनसेन जिनकल्पी दिगंबर पथ के अन्वय से सबधित हैं, इस संबंध में पर्याप्त प्रमाण हैं। इसके अलावा मूलाराधना स्रोत के वृहत्कथाकोश और कन्नड की वड्डाराधना भी जिनकल्पी दिगंबर आम्नाय की कृतियाँ हैं।

महागिरि सूरि की परम्परा के जिनकल्पी सब साधु (तृ) भद्रबाहुस्वामी के समय मे दिगंबर पंथ मे सम्मिलित हुए ऐसा तो नही है, मात्र कुछ साधुओं ने ही इस पंथ को स्वीकार किया है और शेष श्वेतांबर पंथ के एक समूह के रूप मे आगे बढे हैं। वी.नि.सं. ८२७ – ८४० के बीच सम्पन्न

माथुरी वाचना जिनकल्पी समूह के आचार–विचारो का संकलन था। स्थूलरूप से इसी समय सम्पन्न वलभी वाचना स्थविरकल्पी आचार विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। समय बीतने पर स्थविरकल्पी समूह के प्राबल्य से जिनकल्पी समूह क्षीण होता जा रहा था। वी.नि.सं. ८७२ के समय के बाद ही इस समूह के साधुओ द्वारा ही यापनीय संघ की स्थापना हुई है। देवर्धिगणि द्वारा आगम संकलन होने के बाद यह जिनकल्पी समूह समाप्त हो गया।

अर्हद्बलि स्वामी द्वारा मुनिसंघ के संगठन की ऐतिहासिक घटना के बारे में श्रुतावतार और नंदि आम्नाय पट्टावलियो के आधार पर पीछे उल्लेख किया गया है। इन्हे सूक्ष्मदृष्टि से देखने से संभाव्य रूप से दिखाई देने वाला विचार यहॉ विद्वानो के अवलोकन के लिए प्रस्तुत किया जाएगा। दिगबर पंथ के मुनिसघो के बारे मे उल्लेख करते समय वे मूलसघ से उत्पन्न हुए जैसे कथन देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'श्रीमूलसघेऽननि नदिसंघस्तस्मिन् बलात्कार गणोऽतिरम्यः' – श्रीमूलसंघ में नन्दिसघ और उसमे बलात्कार गण उत्पन्न हुआ। 'श्री मूलसंघस्तदनुसितपट' श्रीमूलसघ और उसके पश्चात् श्वेताबर (पथ उत्पन्न हुआ)। इससे यह स्पष्ट होता है कि निर्ग्रन्थ सघ दिगबर और श्वेतांबर सघ के रूप मे दो भाग होने तक परपंरागत आए मुनिसंघ या अर्हद्बलि स्वामी द्वारा नदि आदि संघो की स्थापना होने तक पूर्वान्वय रूप से आए मुनिसघ को 'मूलसंघ' कहा गया है। लेकिन यह नाम श्वेतांबर संघ पर लागू न होकर मात्र दिगबर पंथ पर लागू होने के कारण (तृ) भद्रबाहुस्वामी तक पूर्वान्वयरूप से आए श्रुतधर आचार्य परम्परा के मुनिसंघ को 'मूलसंघ' नाम दिया गया है यह स्पष्ट है। प्रायः वट्केर की मूलाचार नामक कृति इसी मूलसघ के आचरण की प्ररूपक है– ऐसा तात्पर्य है। अर्हद्बलि स्वामी ने अपने द्वारा स्थापित मुनिसघो को स्थानस्थिति विशेष के आधार से उन मुनिसघों को नंदि आदि नाम दिए– ऐसा श्रुतावतार और नंदि आम्नाय पट्टावलियों मे बताया गया है। लेकिन इन नामों को देते समय अर्हदबलिस्वामी ने अपनी पूर्वपरम्परा के सूचक नाम देकर इन नए संघों से पूर्वपरम्परा का संबंध स्थापित किया है, ऐसा कहा जा सकता है। इस

बारे में नंदि, देव, अपराजित, भद्र– इन नामों की ओर ध्यान देना चाहिए। ये नाम पाँच श्रुत केवलियों में चार के नामों के सूचक हैं– यह स्पष्ट है। इन चार नामों के अलावा 'वृषभ' इस नाम पर ध्यान देने पर यह गोवर्धन के नाम का सूचक है– ऐसा समझा जा सकता है। प्राय इस आचार्य का पूर्ण नाम गोवर्धन (वसह) वृषभ रहा होगा और उसके अन्त्य 'वृषभ' शब्द का अर्ह्दबलि स्वामी ने एक संघ के लिए नामकरण किया होगा– ऐसा समझ सकते हैं। ऐसे पाँच श्रुतकेवलियों के नाम का स्तूप के समान उपयोग करने के कारण 'पंचस्तूपान्वय' नाम चल पड़ा है– ऐसा कहा जा सकता है। श्रुतावतार के कथनानुसार मात्र सेन और भद्र संघों पर ही पंचस्तूपान्वय लागू होगा ऐसा अभिप्राय है, लेकिन फहरपुर के (ईसा की ५वीं शताब्दी के) ताम्रशासन में गुहनंदि आचार्य को और श्रवणबेलगोला के शिलालेख में वृषभनंदि स्वामी को पंचस्तूपान्वय के रूप में दिखाया गया है– ऐसा मान्य ए.एन. उपाध्ये जी ने कहा है।[६४] इसलिए यह सब संघों पर लागू होगा– ऐसा समझा जा सकता है। इन पॉच संघों में हर एक में चार–चार गण थे– ऐसा नंदि आम्नाय पट्टावली के पूर्वोक्त उल्लेख से व्यक्त होता है। इन चार गणों में पहले गण का उसी संघ का नाम है और वह गण उस संघ के प्रधान आचार्य के सीधे नेतृत्व में था, अन्य तीन गणों के लिए एक–एक आचार्य को नियुक्त किया गया था। यह देखने में आता है कि इन गणों के आचार्यो में ज्येष्ठ, समर्थ कोई एक उस संघ के प्रमुख आचार्य हो सकते थे ऐसा नियम था। इन संघों और गणों के मुनियों के नाम उन–उन संघ और गणों के सूचक शब्दों से अन्त्य होते थे। उन–उन संघों के प्रथम–प्रथम गणों के मुनियों के नाम उन–उन संघों के सूचक ही होते थे। पाँच संघों के कुल २० गणों मे पॉच गणों के मुनियों के नाम उस–उस संघ के सूचक ही होते थे। इसलिए शेष १५ गणों के मुनियों के नामों को ६ दशपूर्वी और ६ एकादशांगधारी मुनियों के नामों के आधार पर नामकरण किए जाने की संभावना है। इस तरह स्थापित संघ और गणों की रचना पद्धति को आगे के रेखा–चित्र से समझा जा सकता है–

अर्हद्बलि स्वामी द्वारा स्थापित पॉच संघों में प्रथम नंदि संघ के माघनंदि स्वामी प्रथम प्रधान आचार्य हैं, जैसा कि नंदि आम्नाय पट्टावली

में कहा गया है, (तृ) भद्रबाहुस्वामी शक संवत् ४ में प्रधान आचार्य पद पर आरूढ होकर शक संवत् २७ में दिवंगत हुए हैं। यहाँ पर एक प्रमुख बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए। यहॉ पर बताया गया संवत् गलती से उत्तर भारत में प्रचलित विक्रम शक संवत् गिना गया है। वास्तविकरूप से यह (शालीवाहन) शक सवत् है। इस शक काल को विक्रमांक शककाल नाम दिया जाता था। 'श्रीवीर निर्वृत्ते सकाशात् पंचोत्तर षट्शत वर्षाणि (६०५) गत्वा विक्रमांकशकराजों जायते।[६५] इसका अर्थ है कि श्री वीर निर्वाण के ६०५ वष बीतने पर विक्रमाक शक राजा होगा। यह कथन शालिवाहन शक के आरंभ को बताता है। लेकिन विक्रमादित्य (विक्रमार्क का) शक श्रीवीर निर्वाण से ४७० वर्षो के बाद आरंभ होता है। संभवतः विक्रमार्क और 'विक्रमाक' नामो की सन्निकृष्ट सादृश्यता के कारण विक्रमांक (शालिवाहन) शक के गणना काल को विक्रमसवत् के रूप मे गलती से गिना गया है। इस बारे में वीरसेन आचार्य कृत धवला टीका की रचना के काल के निर्णय के संबंध मे मान्य डॉ. हीरालाल जैन की समीक्षा देखे।[६६] इस प्रकार नदि आम्नाय पट्टावली में बताए गए (तृ.) भद्रबाहुस्वामी आदि की सवत् कालगणना को शालिवाहन शक कालगणना के रूप में समझना चाहिए। इसके अनुसार (तृ) भद्रबाहुस्वामी के प्रधान आचार्य पदस्थ समय शक सवत् ४ से २७, वी.नि.सं ६१० से ६३३ और ईसवी सन् ८२ से १०५ समझना चाहिए। (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद (अर्हद्बलि) गुप्तिगुप्तस्वामी १० वर्ष, उनके बाद माघनदिस्वामी ५ वर्ष, उनके बाद जिनचन्द्रस्वामी ६ वर्ष उनके बाद कुदकुदस्वामी ५२ वर्ष, इनके बाद उमास्वामी ४१ वर्ष प्रधान आचार्य पद पर थे, ऐसी नंदि आम्नाय पट्टावली के कथनानुसार कालगणना बनती है।[६७] जैसा कि नदि आम्नाय पट्टावली 'ए' प्रति में बताया गया है, कुदकुंदाचार्य के प्रधान आचार्य पद का समय शक संवत् १०१ में अर्थात् वीर निर्वाण संवत् ७०७ में समाप्त हुआ और इसके बाद उमास्वामी आचार्य बने है। इस पट्टावली मे कहा गया है कि कुंदकुंदाचार्य की पूर्ण आयु ६६ वर्ष थी, लेकिन नदि आम्नाय पट्टावली 'सी' प्रति के कथनानुसार इनकी पूर्ण आयु ८६ वर्ष थी। इसी पट्टावली के कथनानुसार कुदकुद आचार्य ने अपनी ११ वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की थी। इसके अनुसार कुदकुंद आचार्य ने शक संवत् (१०१–७६) २५ में अर्थात् वी.नि.सं.

६३० में अथवा 'ए' प्रति के कथनानुसार (१०१–८६) शक संवत् १५ में अर्थात् ६२० में मुनिदीक्षा ग्रहण की थी– ऐसी गणना होगी। (तृ) भद्रबाहुस्वामी वी.नि.सं. ६१० से ६३३ तक प्रधान आचार्य पद पर थे यह पीछे स्पष्ट कर आए हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि कुंदकुंदाचार्य ने इन (तृ) भद्रबाहुस्वामी से मुनिदीक्षा ली थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कुदकुंदाचार्य (तृ.) भद्रबाहु स्वामी के शिष्य थे। यह बात बोधपाहुड के आधार से पहले कही गयी है।

श्वेतांबर पथ के आम्नाय का अनुसरण करने वाला 'जिनकल्प' दिगबर पंथ का सूचक नहीं है, यह पीछे कह चुके हैं। दिगंबर पंथ की उत्पत्ति के बारे मे श्वेतांबर पंथ का कथन ध्यान देने योग्य है। मान्य प्रो. रूडोल्फ होएर्नलजी के नंदि आम्नाय पट्टावली 'सी' पा.भे. में उल्लिखित श्वेतांबर पथ के विजयगण के आत्माराम जी के जैनमूल वृक्ष के अनुसारः 'वी.नि.सं. ६०६ में कृष्णसूरि के शिष्य शिवभूति सहस्रमल्ल ने दिगंबर पंथ की उत्पत्ति की। उसके कौण्डिन्य और कौष्टवीर नामक दो शिष्य थे। इन दोनो के बाद धरसेन, भूतबलि और पुष्पदन्त हुए। इन्होंने वी.नि.सं. ६८३ मे (?) मास के शुक्ल पक्ष पंचमी के दिन ७०००० श्लोक प्रमाण धवला, ६०००० श्लोक प्रमाण जयधवला और ४०००० श्लोक प्रमाण महाधवला नामक तीन शांस्त्रों की रचना की। ये तीनो शास्त्र आज भी कर्नाटक मे सुरक्षित हैं। इनके आधार पर नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार की रचना की।इन तीन शास्त्रो से प्राचीन और कोई शास्त्र दिगंबरों में नहीं मिलता है। फिर दिगंबर नदि आदि शाखाओं में विभक्त हुए। उसके बाद मूल–संघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ और गोप्पसंघ आदि पंथ बने। इसके पश्चात् और आगे चलकर वीसपंथी, तेरापंथी, गुमानपथी, टोटपंथी (अर्थात मूर्तियों के बदले पुस्तकों शास्त्रों की पूजा करने वालो का पंथ) बने। आरंभ में शिवभूति ने नग्नपंथ चलाया। बाद में स्त्रियों को मोक्ष नहीं है– ऐसा उपदेश दिया।[६८]' इस कथन की सत्यासत्यता की चर्चा करने की आवश्यकता यहां पर नहीं है। धवला जयधवला, महाधवला के रचयिताओं के बारे में बताई गई बात से ही मान्य मुनि आत्माराम जी को ऐतिहासिक बातों को बताते समय आवश्यक विचार दृष्टि का न होना, स्पष्ट है।[६६]

(तृ.) भद्रबाहुस्वामी के बाद अर्हदबलिस्वामी द्वारा की गई मुनिसंघ की व्यवस्था और मुनिसंघ आचार्यानुक्रम के प्रवर्तन के इतिवृत्त का निरूपण किया गया है। अब (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद के श्रुतप्रवर्तन के इतिवृत्त के बारे में समीक्षा करने की आवश्यकता है। (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद लोहाचार्य श्रुतधर आचार्यानुक्रम के अंतिम आचार्य के रूप में गिने जाते हैं– यह तो विदित ही है। (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद अर्हद्बलि स्वामी मुनिसंघ के प्रधान आचार्य बन कर वी.नि.सं. (६३३ + १०) ६४३ वर्ष तक जीवित थे– यह पीछे कह आए हैं। इसी प्रकार (तृ.) भद्रबाहुस्वामी के बाद श्रुतधारक के रूप में लोहाचार्य वी नि.सं. (६३३ + ५०) ६८३ वर्ष तक जीवित थे– यह भी ज्ञात है। इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि अर्हद्बलिस्वामी और लोहाचार्य बड़े–छोटे धर्मभाई थे। प्रस्तुत प्रसंग से संबधित कुछ बातों की समीक्षा की जानी चाहिए। लेकिन इद्मित्थं यही सच है ऐसा कहने के लिए सहायक आधारांश इस समय उपलब्ध नही हैं। फिर भी आगे के शोध की सहायता के लिए उपलब्ध कथायत्त ऐतिहासिक अशों की समीक्षा करनी होगी– श्वेताबर आम्नाय के आर्य वज्रसूरि की कथा मात्र कथा न होकर इसमें ऐतिहासिक तथ्य समाविष्ट हैं। आर्य वज्रसूरि आर्य सिहगिरि के शिष्य हैं। वे अपने गुरू के पास एकादशाग श्रुत का अध्ययन पूर्ण कर बारहवें दृष्टिवाद अंग के अध्ययन के लिए दशपुर से चलकर अवंति मे रह रहे भद्रगुप्त स्वामी के पास गए। जिस दिन ये यहॉ पहुँचने वाले थे उससे पहली रात भद्रगुप्तस्वामी ने अपनी अजुली में भरे दूध को एक आगंतुक द्वारा पीकर तृप्त होने का स्वप्न देख अपने से पूर्णरूप से विद्या प्राप्त करने वाला एक शिष्य आने वाला हैं, ऐसा जानकर प्रसन्न हुए। इसके अनुसार वे अपने पास आए आर्य वज्रसूरि को देख प्रसन्न हुए। आर्य वज्रसूरि भद्रगुप्त स्वामी के पास दशपूर्वों का अध्ययन पूर्ण कर सिंहगिरि स्वामी के पास वापस चले गए। कुछ समय बाद इन्हे सिहगिरि स्वामी आचार्य पद पर नियुक्त कर दिवगत हुए। जन्म से ही पदानुसारी स्मृति लब्धिसम्पन्न आर्य वज्रसूरि ने आचारांग के मध्यवर्ती महापरिज्ञा के अध्ययन से आकाशगामी विद्या का उद्धार किया। इतने में एक बार गभीर दुर्भिक्ष अकाल पडा। इस अकाल के संकट से संघ को बचाने के लिए अपनी विद्याशक्ति से बृहदाकार का वस्त्र उत्पन्न कर

ससंघ आकाशगमन कर धन–धान्य से सम्पन्न महापुरि पहुँच गए। उस नगर का राजा बुद्ध का उपासक था और उसने जैन धर्म के अनुयायियों में आतंक उत्पन्न किया था। वज्रसूरि ने इसका निवारण कर जैन धर्म की प्रभावना की।

दशपुर में सोमदेव और रूद्रसोमा दम्पत्ति के आर्यरक्षित और फल्गुरक्षित नामक दो पुत्र थे। आर्यरक्षित जिनधर्मवत्सला अपनी माँ की प्रेरणा से दृष्टिवाद अंग श्रुत के अध्ययन करने की अपेक्षा से तोसलिपुत्र आचार्य के पास गए। श्रुत के अध्ययन करने के लिए मुनिदीक्षा लेने की आवश्यकता थी। इसलिए मुनिदीक्षा लेकर एकादशांग श्रुत का अध्ययन किया। इसके बाद वज्रसूरि के पास दृष्टि–वाद अंग के विशेष अध्ययन के लिए उज्जयिनी चले गए। उस समय भद्रगुप्तस्वामी उज्जयिनी में थे, इसलिए उनके पास भी गए। भद्रगुप्त स्वामी ने अपनी आयु का अंत निकट जानकर अनशन व्रत के पालन का निश्चय कर आर्यरक्षितस्वामी से अपने निर्यापक होने का निवेदन किया। यह स्वीकार कर उनके पास रहकर सेवा में निरत हुए। आर्यरक्षित स्वामी को इस अवसर पर भद्रगुप्तस्वामी ने कहा कि श्रुत का अध्ययन करने के लिए वज्रसूरि के पास जाने पर उनके पास एक ही प्रतिश्रय मे रहकर अध्ययन नही करना चाहिए। वैसा कोई भी वज्रसूरि के प्रतिश्रय में एक रात व्यतीत करने पर भी वह मृत्यु मे वज्रस्वामी का अनुसरण करेगा। भद्रगुप्तस्वामी के स्वर्गवास होने पर आर्यरक्षित स्वामी ने वज्रस्वामी के पास जाकर अपूर्व प्रतिभा के साथ नौ पूर्वो का अध्ययन पूरा किया। आगे दसवें पूर्व का अध्ययन आरंभ करते–करते फल्गुरक्षित माता पिता का वात्सल्यपूर्ण बुलावा लेकर आए, उसका निराकरण न कर सकने के कारण आर्यरक्षित वहॉ से चले गए।

वज्रस्वामी विहार करते हुए दक्षिणापथ पहुँच गए। दाक्षिणात्य लोग वज्रस्वामी के दर्शन लाभ से बहुत प्रसन्न हुए, आचार पालन में आकस्मिक रूप से प्रमाद उत्पन्न होने के कारण वज्रस्वामी ने शरीरत्याग करने का निश्चय किया। सब तरफ बारह वर्ष का अकाल पडा। तब वज्रसूरि ने अपने शिष्य वज्रसेन से 'जिस दिन तुम लक्षतौल्य धन से भिक्षा

प्राप्त करोगे उसके दूसरे दिन से सुभिक्ष होगा।' ऐसा कहकर उन्हें अन्यत्र विहार करने का आदेश दिया। उसके बाद वज्रसूरि और अन्य अनेक साधु अनशनपूर्वक एक पहाड पर दिवंगत हुए। जिस पहाड पर ये दिवंगत हुए वह रथावर्त पर्वत कहलाया।[१००]

आर्य वज्रसूरि द्वारा दक्षिणभारत के महापुरि में बौद्ध राजा के कारण जैनधर्म पर आए संकट के निवारण किए जाने जैसी समान घटना दिगंबर पथ के साहित्य मे भी वज्रकुमार मुनि के नाम से आती है। समंतभद्रस्वामी के रत्नकरण्डश्रावकाचार और शिवार्य की मूलाराधना के मूल की यह कथा ईसा की चौथी सदी के पूर्व से ही अनुश्रुति मे आई है।[१०१] आर्य वज्रसूरि की कथा में बौद्ध राजा द्वारा जैनधर्म पर आए सकट का स्थान महापुरि कहा गया है जबकि वज्रकुमार स्वामी की कथा मे दक्षिण मथुरा नाम है। इसके अलावा यह भी कहा गया है कि वज्रकुमार स्वामी ने दक्षिण मथुरा के निकट के पहाड की क्षत्रिय नामक गुफा में विहार किया था और इस स्वामी के भक्त दिवाकर ने यहॉ पर एक स्तूप बनवाया। दक्षिण मथुरा के आस–पास के पहाडों पर ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसा की चौथी सदी के कहे जानेवाले जैन मुनियों के विहारस्थानो की ऐतिहासिक घटना अब प्रसिद्ध है। इसलिए आर्य वज्रसूरि वज्रकुमार स्वामी के नाम की कथाओ में आए हुए कथा प्रसग ऐतिहासिक घटनाऍ बन गई है, ऐसा समझने मे कोई आपत्ति नही है।

वज्रसूरि की कथा मे १२ वर्ष के अकाल की दु:स्थिति उत्तर भारत मे उत्पन्न होने के कारण वे दक्षिण भारत आए ऐसा कहा गया है। वड्डाराधने कथा के आधार से तृतीय भद्रबाहु नाम के आचार्य दक्षिण भारत प्रयाण कर आए यह पीछे कहा जा चुका है। इसी प्रकार श्रवणबेलगोला के पहले शिलालेख के केन्द्र (प्रमुख) व्यक्ति श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी न होकर उनके और उनके शिष्य परम्परा के महापुरूषो की परम्परा में हुए एक अन्य भद्रबाहुस्वामी हैं यह भी पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। ये भद्रबाहुस्वामी भी उत्तरभारत मे उत्पन्न १२ वर्ष के अकाल के कारण दक्षिणभारत प्रयाण कर आए यह उस शिलालेख से मालूम होता है।

## मूलसंघ
## (पञ्चस्तूपान्वय)

| १. नंदिसंघ | | | | २.देवसंघ | | | | ३.अपराजितसंघ | | | | ४.वृषभसंघ | | | | ५.भद्रसंघ | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | २ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ |
| नदि | चद्र | कीर्ति | भूषण | देव | दत्त | नाग | सिह | अपराजित | कुभ | आश्रव | सागर | वृषभ | गुप्त | धर | पालभद्र | भद्र | वीर | राज | सेन |

**टिप्पणी :** देवसघ के 'सिहगण' के स्थान पर 'तुगगण' और अपराजित सघ के 'कुभ' के स्थान पर 'आश्रव' और 'आश्रव' के स्थान पर 'सिह' होने की सभावना है।

वज्रसूरि की कथा में बताए गए १२ वर्ष के अकाल के निमित्त का दुष्काल और श्रवणबेलगोला के पहले शिलालेख मे बताए गए १२ वर्ष का अकाल भिन्न भिन्न काल में उत्पन्न न होकर एक ही समय के हैं, ऐसा समझ सकते हैं।[१०२] श्रुतधर आचार्यानुक्रम में उपान्त्य आचारांगधर के रूप में निर्दिष्ट (तृ) भद्रबाहुस्वामी यह नाम और श्रवणबेलगोला के प्रथम शिलालेख के केन्द्र व्यक्ति भद्रबाहु—यह नाम भिन्न—भिन्न व्यक्ति के न होकर एक ही व्यक्ति के सूचक है ऐसा कहने मे परोक्ष आधार है। उपान्त्य आचारांगधर (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद मुनिसघ के आचार्य पद पर आरुढ अर्हदबलि स्वामी के गुप्तगुप्ति या गुप्तिगुप्त ऐसा और एक नाम था, इसके अलावा विशाखाचार्य नाम था यह नदि आम्नाय पट्टावलियों के दृढतर कथनों से ज्ञात होता है। इस 'विशाखाचार्य' नाम से श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने कळबप्पु (श्रवणबेलगाला के छोटे पहाड) में सल्लेखना लेने का निश्चय कर मुनि सघ को आगे प्रयाण करने के आदेश देने पर दशपूर्वी विशाखाचार्य को मुनिसघ के प्रधान आचार्य बनाने के प्रसंग की परछाई दिखाई देती है। प्रसंगो की इस समानता के कारण अर्हद्बलिस्वामी का बाद मे यह नाम चल पडा ऐसा कहा जा सकता है। इसके अनुसार श्रवणबेलगोला के प्रथम शिलालेख के केन्द्र व्यक्ति भद्रबाहुस्वामी कळ्बप्पु मे सल्लेखना लेने का निर्णय कर मुनिसंघ का विसर्जन कर (निरव—शेषेण—संघ विसृज्य) आगे प्रयाण करने का आदेश देते समय अर्हद्बलिस्वामी को आचार्य बनाया यह स्वत स्पष्ट होता है। इससे श्रुतधर आचार्य परम्परा में उपान्त्य आचाराग श्रुतधर के रूप मे निर्दिष्ट (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद आचार्य बने अर्हद्बलि गुप्तगुप्ति (विशाखाचार्य) ही श्रवण बेलगोला के प्रथम शिलालेख के केंद्र व्यक्ति भद्रबाहुस्वामी के बाद आचार्य बने, यह स्पष्ट होता है।

श्रवणबेलगोला के प्रथम शिलालेख के कथनानुसार उत्तरभारत में उत्पन्न दुष्काल के कारण दक्षिणापथ को प्रयाण करने के आदेश का पालन करने वाले निर्ग्रंथ मुनिसंघो में आर्य वज्रसूरि का सघ भी एक था, ऐसा समझा जा सकता है। यह आदेश भद्रबाहुस्वामी ने उज्जयिनी में विहार करते समय दिया था ऐसा इस शिलालेख के कथन से ही विदित होता है। आर्य वज्रसूरि की कथा मे बताए गए भद्रगुप्त स्वामी और (तृ)

भद्रबाहुस्वामी पर आधारित कुछ समानताओं की समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। वज्रसूरि की कथा के अनुसार भद्रगुप्त सूरि का विहार केन्द्र अवन्ती देश है। इनके पास वज्रसूरि ने दशपूर्वो का अध्ययन किया। इस संदर्भ में एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है : दिगबर पंथ में अभिन्न प्रकार से अर्थात् थोडी भी न्यूनता के बिना परिपूर्णतया शब्दार्थ सहित दशपूर्वो को स्मृति में धारण करने वालों को दशपूर्वी स्वीकार किया गया है, लेकिन श्वेतांबर पंथ में यह नियम दिखाई नहीं देता। उदाहरण के लिए स्थूलभद्रसूरि ने वस्तुद्वय अध्यायो से न्यून दशपूर्वी का अध्ययन किया था, आगे इसका शेष भाग और आगे के चार पूर्वो का मात्र पदश अध्ययन किया था। इन्हें श्वेताबर आम्नाय में चतुर्दशपूर्वी माना गया है। इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि श्वेतांबर पंथ मे स्थूलभद्रसूरि आदि होकर श्वेतांबर गुरूपरम्परा में अभिन्न दशपूर्वियों की परंपरा नहीं थी। वज्रसूरि के समय दिगबर आम्नाय के अनुसार पूर्ण आचाराग श्रुत और शेष सब अंगो व पूर्वो के एकदेश श्रुतधारक थे। ऐसे श्रुतधारको मे भद्रगुप्तस्वामी, गुप्तगुप्तिस्वामी और आर्य वज्रसूरि को अधिक विस्तृत वाले श्रुत ज्ञान धारक के रूप मे मान्यता प्राप्त थी, ऐसा समझना होगा। भद्रगुप्त स्वामी के पास वज्रसूरि ने श्रुत का अध्ययन किया है इसलिए वज्रसूरि भद्रगुप्त के शिष्य थे यह स्पष्ट होता है। इसी प्रकार आर्यरक्षित आर्य वज्रस्वामी के पास दशपूर्वो का अध्ययन करने के लिए उज्जयिनी आने और वहॉ अतिमरूप से अनशन व्रत धारण किए भद्रगुप्तस्वामी के निर्यापक बनकर रहने की बात पर ध्यान देना चाहिए। इन सबके अनुशीलन से उज्जयिनी भद्रगुप्तस्वामी का विहार केन्द्र होना स्पष्ट होता है। श्रवणबलेगोला के प्रथम शिलालेख के केन्द्र व्यक्ति भद्रबाहुस्वामी ने दुष्काल के कारण दक्षिणापथ को उज्जयिनी से ही संघ सहित प्रयाण किया है। ये ही उपान्त्य आचाराग श्रुतधर (तृ) भद्रबाहुस्वामी थे यह पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। इनके बाद गुप्तगुप्तिस्वामी मुनिसघ के आचार्य बने यह भी पीछे कह चुके है। आर्य वज्रसूरि को तपागच्छ पट्टावली मे १३ पट्टधर और खरतरगच्छ पट्टावली में १६ वा पट्टधर बताया गया है। इन दोनो में यह बताया गया है कि ये सिहगिरि आचार्य के बाद आचार्य बने। लेकिन श्रमण भगवान महावीर में बताया गया है कि श्री गुप्तस्वामी के बाद ये आचार्य

बने। इस प्रकार दिगंबरपथ में उज्जयिनी को विहार केन्द्र बनाने वाले (तृ) भद्रबाहुस्वामी और गुप्तगुप्ति स्वामी का अनुक्रम बताया गया है जबकि श्वेतांबर पंथ में उज्जयिनी को केंद्र बनाने वाले भद्रगुप्त और श्रीगुप्त को बताया गया है। इसी प्रकार वज्रसूरि की कथा और दिगंबर पंथों के इतिवृत्तों से यह स्पष्ट होता है कि भद्रगुप्त और भद्रबाहु नामों से बताए गए आचार्यों की श्रुतज्ञान सम्पन्नता की गरिमा के बारे में बड़ा सम्मान और आदरपूर्ण मान्यता थी। इस सदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि निर्ग्रंथ मुनिसंघ तब तक श्वेताबर व दिगबर इन दो शाखाओं में विभक्त नहीं हुआ था। इस प्रकार समय, स्थान और घटनाओ की अपेक्षा से समानता रखने वाले (तृ) भद्रबाहु और भद्रगुप्त नाम एक ही व्यक्ति के सूचक है – इसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। प्राय. भद्र (बाहु) और गुप्त (गुप्ति) नामो के सम्मिलन से भद्रगुप्त और श्रीगुप्त नाम चल पडे हैं। ऐसा समझा जा सकता है। इस सबंध में और एक बात ध्यान देने योग्य है। खरतरगच्छ पट्टावली में आर्य वज्रसूरि से भद्रशाखा का प्रारभ होना बाताया गया है. इसके अलावा –

**चतुष्कुल-समुत्पत्ति-पितामहमहं विभुं ।**
**दशपूर्वविधिं वंदे वज्रस्वामी-मुनीश्वरं ।।**

ऐसा भी कहा गया है[103] चारकुलो की उत्पत्ति के लिए पितामह, विभु, दशपूर्वविधि (दशपूर्वो मे अतिम) ऐसे वज्रस्वामी मुनीश्वर को नमस्कार करता हूँ। यहॉ पर मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य **'चतुष्कुल समुत्पत्ति पितामह'** है। 'कुल' अर्थात् सघ गण है। इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि वज्रस्वामी चार संघो या गणों की उत्पत्ति के कारणभूत पितामह और स्वयं ये भद्रशाखा के प्रमुख व्यक्ति थे। अर्हद्बलि स्वामी द्वारा प्रवर्तित पॉच सघो मे 'भद्रसघ' एक था और उसमे चार शाखाओ वाले गण थे, उनमे प्रथम भद्रगण था। यह गण संघ के प्रधान अध्यक्ष के सीधे नेतृत्व मे था यह भी स्पष्ट कर चुके है : इनके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि अर्हद्बलिस्वामी द्वारा प्रवर्तित पॉच सघो मे एक भद्रसघ के आर्य वज्रसूरि प्रधान आचार्य थे, फिर भी इस विचार धारा में बाधक एक बात की यहॉ

समीक्षा की जानी चाहिए। श्वेतांबर पट्टावलियों में बताया गया है कि आर्य वज्रसूरि वी.नि.सं. ५८४ में दिवंगत हुए। लेकिन अर्हद्बलि स्वामी द्वारा नन्दि आदि पाँच संघों का प्रवर्तन (तृ) भद्रबाहुस्वामी के दिवंगत होने के बाद अर्थात् वी.नि.सं. ६३३ के बाद हुआ है, यह पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए अर्हद्बलि द्वारा प्रवर्तित इन पाँचों संघों में एक भद्रसंघ के आर्य वज्रसूरि का प्रधान आचार्य बनना असंभव लगता है, लेकिन श्वेतांबर पट्टावलियों में ही आर्य वज्रसूरि के दिवंगत होने के समय के बारे में संदेह व्यक्त करने की चर्चा है।[१०४] इसलिए उसे निश्चित समय नहीं गिने जा सकने के कारण आर्य वज्रसूरि अर्हद्बलि स्वामी द्वारा–प्रवर्तित संघों में एक भद्रसंघ के प्रधान आचार्य बने इस विचार में बाधक नहीं बनता। इस प्रकार भद्रसंघ के प्रधान आचार्य बनने के समय आर्य वज्रसूरि का यशोभद्र' नाम होने की संभावना है।

यह मालूम ही है कि उज्जयिनी में आर्यरक्षित स्वामी का भद्रगुप्त स्वामी के निर्यापक बनने की बात आर्य वज्रसूरि की कथा में कही गई है। ये भद्रगुप्त स्वामी (तृ० भद्रबाहु स्वामी) श्रवणबेलगोला के प्रथम शिलालेख के केंद्र व्यक्ति भद्रबाहुस्वामी से अभिन्न थे इस विचार के अनुसार इन्होंने श्रवणबलेगोला के छोटे पहाड पर अंतिम अनशन सल्लेखना व्रत धारण किया था और इनके निर्यापक प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे। आर्य रक्षित यह गृहस्थावस्था का नाम था और इन का ही मुनि अवस्था का नाम प्रभाचन्द्र था, ऐसा समझा जा सकता है। जैसा कि पीछे कह चुके हैं, इन भद्रबाहुस्वामी द्वारा प्रधान आचार्य बनाए गए अर्हद्बलि गुप्तगुप्ति स्वामी ने मुनिसघ के साथ उस समय तक उत्तर भारत के क्षेत्र में दुर्भिक्ष समाप्त न होने के कारण, पूर्व परंपरानुसार दक्षिण मथुरा आदि दमिल देश के स्थानों की ओर प्रयाण किया है। आर्यरक्षित (प्रभाचंद्र) ने भद्रबाहुस्वामी के देहान्त के बाद दमिलनाडु में विहार करने वाले मुनिसंघ में सम्मिलित हो वहाँ पर आर्य वज्रसूरि के पास आगे का श्रुताध्ययन किया, ऐसा समझा जा सकता है।

(तृ) भद्रबाहुस्वामी पर्यंत परंपरानुक्रम में जो मुनिसंघ के आचार्य होते थे वे ही श्रुतधारक आचार्य बने रहते थे। लेकिन (तृ) भद्रबाहुस्वामी

के बाद परिस्थितिवश अर्हद्बलि गुप्तगुप्ति स्वामी मुनिसंघ के प्रधान आचार्य बने है। अब प्रश्न यह है कि (तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद श्रुतधर आचार्य पद किसको प्राप्त हुआ? नदि आम्नाय पट्टावली से अन्य सब स्रोतो के अनुसार लोहार्य या लोहाचार्य श्रुतधराचार्य अनुक्रम में अंतिम हैं। इन्हे ही (तृ) भद्रबाहु के पश्चात् श्रुतधराचार्य पद प्राप्त हुआ है। ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत संदर्भ मे एक बहुत ही मुख्य बात की ओर ध्यान देना है। हमारी आगम कृतियॉ किस प्रकार सीधे द्वादशांग श्रुत के अवशेष भाग हैं— यह स्पष्ट करना श्रुतधराचार्य अनुक्रम के इतिवृत्त निरूपण का मूल उद्देश्य है। यह षट्खण्डागम की रचना से संबंधित कथायत्त इतिवृत्त से स्पष्ट होता है। मुनि सघ के प्रधान आचार्य अनुक्रम की बात इसके साथ आनुषगिक रूप से जुडी है। श्रुतधराचार्य अनुक्रम के इतिवृत्त मे दो स्तर है पहला स्तर स्मृति रूप में रहकर श्रुत का प्रवर्तन होना और द्वितीय स्तर वही श्रुत का लिपिबद्ध रूप होना। वास्तविक रूप से जिस आचार्य के उपदेश लाभ से षट्खडागम की रचना हुई उस आचार्य के दिवंगत होने के दिन ही श्रुत स्मरण स्तर का अतिम दिन है और वही दिन लिपिबद्ध आगम प्रवर्तन स्तर प्रारम्भ दिन गिनना चाहिए। यह तो विदित ही है कि धरसेनाचार्य ने अपनी स्मृति मे जिस श्रुत को धारण किया था उसका उपदेश पुष्पदत भूतबलि मुनियों को दिया अत जिस दिन धरसेनाचार्य का स्वर्गवास हुआ उसी दिन 'श्रुत स्मरण स्तर' समाप्त होकर 'लिपिबद्ध श्रुत आगम स्तर' का दिन प्रारभ हुआ ऐसा मानना चाहिए।

प्राय सभ्राति के कारण धरसेनाचार्य के पूर्वान्चय गुरू अनुक्रम और उन आचार्य के दिवगत होने के समय और प्रथम आगम के रूप में सस्तुत षट्खडागम की रचना के निश्चित समय को बताने वाले स्रोतों का उपलब्ध न होना हमारा दुर्भाग्य है। तथापि एक दो प्रमाणों के आधार से 'इदमित्थं' तो नहीं पर संभावना के तौर पर निर्णय करने का यहॉ प्रयास किया जाएगा।

धरसेन स्वामी अपनी आयु के अंतिम समय में ऊर्जयंतागिरि की चन्द्रगुफा में तपश्चर्या में लीन थे– यह निश्चित है। मान्य डॉ. हीरालाल जैन[१०६] के कथनानुसार जूनागढ के निकट स्थित गुफाओं में कुछ जैन मुनियों के निवास स्थान थे। इनमें एक गुफा के पास अर्ध चंद्राकार का विविक्त स्थान है। इस गुफा के पास प्राप्त एक शिलालेख में एक जैन मुनि के स्वर्गवास होने का इतिवृत्त है । इसमें धरसेनाचार्य के दिवंगत होने का ऐतिह्य है, यह शिलालेख ईसा सन् १५० और १८७ के बीच के समय में रचित हुआ है। इसके अनुसार यह वी नि.सं. (५२८+१५०) ६७८ वें वर्ष के बाद रचित हुआ है ऐसी गणना होगी। इसलिए धरसेनस्वामी लगभग इस समय तक जीवित थे– ऐसा समझ सकते हैं। ऐसा और एक उल्लेखनीय आधार बृहटिट्प्पणी का कथन है। 'धरसेन' द्वारा वी.नि सं. ६०० के बाद योनिप्राभृत की रचना की गई' ऐसा इसमें कहा गया है।[१०७] इससे यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि धरसेनाचार्य वी.नि सं. ६०० और ६७८ के बीच जीवित थे। इसके अनुसार यह समझ सकते है कि (तृ) भद्रबाहुस्वामी जिस समय प्रधान आचार्य पद पर थे, उस समय धरसेनस्वामी मुनि बने थे। सभव है कि सेन शब्द से अन्त्य होने वाला यह 'धरसेन' नाम अर्हद्बलि स्वामी द्वारा मुनिसघ के पॉच सघों में व्यवस्थित होने के बाद प्रचार मे आया हुआ नाम हो। सेन शब्द से अन्त्य होने वाले नाम सेनगण के मुनियो के होते थे और यह गण भद्रसंघ की शाखा था यह पीछे स्पष्ट कर चुके है। इसके अलावा भद्रसंघ के प्रथम प्रधान आचार्य बनकर वज्रस्वामी के अधिकृत होने की बात भी स्पष्ट कर चुके हैं। इस वज्रस्वामी के एक शिष्य वज्रसेन है। इन्हें दुर्भिक्ष समाप्त होने वाले 'लक्षमूल्य आहार' के शकुन संकेत को बताकर वहॉ से प्रयाण करने का आदेश वज्रस्वामी द्वारा दिए जाने की बात वज्रस्वामी की कथा में है। इससे सेनगण के मुनि वज्रस्वामी के शिष्य थे इसकी पुष्टि मिलती है। इसी प्रकार धरसेन स्वामी भी उसी समय नए रूप से व्यवस्थित सेनगण के मुनि थे ऐसा निश्चित रूप से कह सकते हैं। श्रुत ज्ञान की गरिमा प्राप्त विरल व्यक्ति धरसेन थे और वैसे व्यक्ति उस समय अतीव दुर्लभ थे यह भी मानना होगा। इसके बारे में विचार करने पर हमें दिखाई देने वाले ऐसे व्यक्ति आर्यरक्षित प्रभाचन्द्र है। जैसा कि पीछे बता चुके हैं, इन्होंने (तृ)

भद्रबाहुस्वामी के पास पूर्व श्रुत का अध्ययन किया था और कुछ समय तक उनके निर्यापक आचार्य रहे हैं। (तृ) भद्रबाहु स्वामी के देहांत के बाद ये दक्षिण मथुरा के आस पास के क्षेत्र मे विहार कर रहे वज्रसूरि के पास जाकर उनके शिष्य बनकर इन्होने श्रुत का अध्ययन जारी रखा है। इस बारे में अब कोई सदेह नही होना चाहिए कि इन्हें भद्रसंघ के एक शाखा संघ सेनगण से अन्वित नया नाम भी था। समय, संदर्भ और श्रुत के अध्ययन की गरिमा को ध्यान मे रख विचार करने पर आर्यरक्षित—प्रभाचन्द्र का ही 'धरसेन' नया नाम है ऐसा समझा जा सकता है।

(तृ) भद्रबाहुस्वामी ने १२ वर्ष के दुर्भिक्ष के कारण दक्षिणापथ की आर प्रायः वी नि सं. ६३२ में प्रयाण किया हैं और कल्बप्पु (श्रवणबेलगोला छोटे पहाड) में वी नि स. ६३३ में दिवगत हुए है। यह दुर्भिक्ष संभवतः वी. नि व. (६३२+१२) ६४४ मे समाप्त हुआ है— ऐसी गणना होगी। वज्रसूरि ने दुर्भिक्ष समाप्त होने के आस पास के समय अपने शिष्य वज्रसेन को उत्तरभारत की ओर प्रयाण करने का आदेश दिया है और उसके बाद थोडे समय मे वज्रसूरि सल्लेखना लेकर दिवगत हुए हैं। इसलिए ये वी.नि.स. ६४४ के आस—पास दिवगत हुए हैं, ऐसी गणना होगी और (आर्यरक्षित) प्रभाचद्र धरसेन ने जैसा कि वज्रसूरि की कथा से सूचना मिलती है, उत्तरभारत की ओर प्रयाण किया है। ऐसी भी गणना होगी।

पीछे कह चुके हैं कि श्रुतधर आचार्यनुक्रम के इतिवृत्त का मूल उद्देश्य श्रुत स्मृति परम्परा, से लिपिबद्ध रूप में परिवर्तित होने अर्थात् प्रथम लिपिबद्ध श्रुत षट्खण्डागम के उदय की अनुबद्धता का निर्देश करना है।

अब तक के विवेचन से धरसेनाचार्य के ही 'श्रुत के स्मृतिधारक आचार्य परम्परा' मे अतिम होने की सूचना मिलती है। लेकिन यहॉ एक समस्या खडी होती है। श्रुतधर आचार्य परपरा में अंतिम आचारांग श्रुतधर कहलाने वाले को लोहाचार्य या लोहार्य का नाम दिया गया है। इससे मौलिक श्रुतधर आचार्यानुक्रम का इतिवृत्त इनके साथ समाप्त होगा और

इस श्रुतधर आचार्यानुक्रम के इतिवृत्त के साथ षट्खण्डागम की रचना के इतिवृत्त का सीधा संबंध नहीं रह पाएगा। लोहाचार्य के बाद सब अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाताओं में एक कहलाने वाले धरसेन स्वामी का नाम होने पर भी लोहाचार्य के साथ धरसेनाचार्य का गुरू शिष्य संबंध या कम से कम गुरू शिष्य अनुक्रम संबंध तो था, यह कहने में कोई आधार ही नहीं है। इसलिए प्रथम लिपिबद्ध श्रुत षट्खण्डागम के साथ जैसा कि पीछे कह चुके हैं, (गौतम गणधर आदि लोहाचार्य तक की) श्रुतधर आचार्य परम्परा का सीधा संबंध चूक गया है। यह समझना चाहिए कि कारणातरों से उत्पन्न सम्भ्रान्ति के कारण कालांतर में यह संदिग्ध परिस्थिति उत्पन्न हुई होगी। इसका परिहार यह है कि धरसेनाचार्य को ही लोहार्य कहा गया होगा और समय बीतने पर ये दो नाम दो व्यक्ति के सूचक है ऐसी धारणा के कारण लोहार्य नाम अंतिम आचारांग श्रुतधर के रूप में और धरसेन नाम षट्खण्डागम के रचयिताओं को श्रुतोपदेश देने वाले गुरू के रुप में अलग अलग बन गए है— ऐसा कह सकते हैं। पीछे की समीक्षा के अनुसार धरसेनाचार्य उपान्त्य आचारांग श्रुतधर (तृ) भद्रबाहुस्वामी के समकालीन ही नहीं बल्कि उनसे श्रुतोपदेश प्राप्त शिष्यों में अंतिम भी हैं। अर्थात् स्मृति में श्रुतधारण करने वाले श्रुतधर अनुबद्ध परम्परा में अंतिम है। इसलिए श्रुतधर आचार्य अनुक्रम के अतिम स्थान में जो लोहार्य नाम है वह धरसेनाचार्य को ही लागू होगा। धरसेन को इस नाम से पुकारने का एक संभावित कारण भी है: महावीर भगवान के समक्ष द्वादशाग श्रुतज्ञान सम्पन्न गणधरों में पद प्राप्त सुधर्मस्वामी एक हैं इनका अपरनाम लोहार्य और महावीर भगवान के समक्ष जो श्रुतधारक परमर्षिगण था वह सुधर्म लोहार्य के निर्वाण के साथ समाप्त हुआ है। वैसे ही श्रुत को स्मृति में धारण किए हुए आचार्य परंपरा धरसेनाचार्य से समाप्त हुयी है। इस कारण से गौरव भाजन लक्षणार्थ धरसेनाचार्य का लोहार्य नाम पडा है ऐसा समझना चाहिए। अब यह प्रश्न उठता है कि लोहार्य अंतिम आचारांग श्रुत धर गिने जाते हैं इसलिए धरसेन को यह पद भला कैसे मिल सकता है। यह सही है, लेकिन धरसेनाचार्य को 'आचारांग श्रुतधर' के रूप मे कहने वाली अनुश्रुति के आधार पर यहाँ ध्यान देना चाहिए।

हरिषेणाचार्य के बृहत्कथाकोष के व्यजनार्थोभय शुद्धि कथानक (सं. २६) मे कहा गया है कि सौराष्ट्र देश गिरिनगर में धर्मसेन राजा और उसकी पत्नी धर्मसेना है। उस नगर के पास चन्द्रगुफा है, वहॉ पर **आचारांग** के ज्ञान सम्पन्न धरसेन महामुनि शिष्यों को व्याख्यान करते थे। (इन्होंने देवबलि और पुष्पबलि नामक शिष्यो को आचारांग श्रुत का उपदेश दिया)। बाकी सब वर्णन श्रुतावतार के इतिवृत्त के समान ही है। इससे यह समझ सकते हैं कि धरसेन स्वामी आचारांग श्रुत के ज्ञान से सम्पन्न थे। इसलिए इन्हें ही लोहार्य नाम होने और कालातर में ये नाम दो व्यक्तियों के नाम होने की धारणा के कारण लोहार्य अतिम आचारांग श्रुतधर है और धरसेन पुष्पदंत स्वामी और भूतबलि स्वामी को कम्मपयडि पाहुड का उपदेश देनेवाले गुरू हैं ऐसा ऐतिह्य बना है। इस समीक्षा के अनुसार धरसेन लोहाचार्य वी.नि.स. ६८३ मे दिवगत हुए हैं– ऐसा समझा जा सकता है। इसी प्रकार परमर्षि गौतम गणधर से लेकर स्मृति मे श्रुत धारण करने वाली अनुबद्ध श्रुतधारक परंपरा धरसेन लोहार्य के साथ वी नि स. ६८३ मे समाप्त हुई है ऐसा समझा जा सकता है। तथा अनुबद्धता के साथ पुष्पदंतस्वामी और भूतबलिस्वामी से लिपिबद्ध आगम का आरभ हुआ ऐसा निश्चित रूप से समझ सकते हैं। **षट्खण्डागम की रचना वी. नि.सं. ६८३ के आसपास अर्थात् ६८३ और ७०० के बीच हुई है- ऐसा निश्चित रूप से कह सकते हैं।** श्रुतावतार में कहा गया है कि कुंदकुदाचार्य ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन भागों पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी। इद्रनंदि के इस कथन को हल्के रूप से लेकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुदकुंदस्वामी वी.नि.सं. ७०७ में दिवंगत हुए हैं– यह पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए यह उचित लगता है की षट्खण्डागम की रचना इससे लगभग ८ या १० वर्ष पहले की हुई होगी। प्रस्तुत प्रसंग में एक विशेष बात पर ध्यान देना आवश्यक है। धरसेनाचार्य अपने जीवन के अतिम समय मे चन्द्रगुहा में रहते हुए तप में रत थे यह तो मालूम ही है। चद्रगुहा पहुॅचने से पहले वेणातटाक को केद्र बनाकर विहार कर रहे मुनिसघ के साथ इनका निकट सपर्क था यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। चद्रगुहा में रह रहे धरसेन स्वामी ने महिमा नगरी में सम्मिलित दक्षिणापथ के आचार्यो को लेख सदेश भेजा और उन आचार्यो ने वह लेख

संदेश पढ़कर– आंध्रप्रदेश वेणायड (वेणातटाक) से दो साधुओं को भेज दिया ऐसा षट्खण्डागम पु–१ में कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्रनन्दि आचार्य के श्रुतावतार में 'इन्द्र (आन्ध्र) देश के वेणातटीपुर मे महामहिमा समुदित मुनियों को एक ब्रह्मचारी के द्वारा धरसेन स्वामी ने लेख सन्देश भेजा– ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि धरसेनाचार्य का वेणातटाकपुर अथवा वेणातटाक के समीप स्थित महिमानगरी को केंद्र बनाकर विहार कर रहे दक्षिणापथ के मुनिसंघों के आचार्यो से निकट परिचय था। अब (कन्नड) पूज्यपाद चरित्र में उपलब्ध विवरण कुछ ऐतिह्य–दर्शाता है– 'वरसुराष्ट्र' गिरिपुर नगर के निकट के उज्जयन्त नामक पर्वत के चन्द्रगुहा में धरसेन नाम से प्रसिद्ध आचार्य थे, उन्होने वेणातटपुर में बहुविध प्राभृतानुशासन लिखा और शासनदेवी ने प्रत्यक्ष होकर बीजाक्षर दिखाया, ऐसा बताया गया है। पता चलता है कि इस पूज्यपाद चरित्र की श्रुतावतार संधि इन्द्रनंदि के श्रुतावतार से भिन्न स्रोत पर आधारित है। इसलिए वेणातटपुर में बहुविध प्राभृतानुशास्त्र लिखा और शासन देवी ने प्रत्यक्ष होकर बीजाक्षर दिखाया'– ये दोनों विशेष बात के सूचक हैं– ऐसा समझा जा सकता है।

चंद्रगुहा में रहते समय धरसेन स्वामी ने श्रुत के अध्ययन के लिए अपने पास आए दो साधुओं (पुष्पदत और भूतबलिस्वामी) की परीक्षा के लिए मत्रपाठ देकर साधना करने के आदेश देने की बात पीछे कह आए है। यह धरसेनाचार्य को मत्रशास्त्र मे प्राप्त प्रवीणता को दर्शाता है। इसके अलावा धरसेनाचार्य ने जोणिपाहुड नामक मत्रशास्त्र की रचना की, ऐसी सुदृढ़ अनुश्रुति है। इस जोणिपाहुड को (अग्गेणि) आग्रायणीय पूर्व के पाहुडशास्त्र के मध्य से उद्धृत कर धरसेनाचार्य ने रचना की– ऐसा कहा गया है– (डॉ. एम.डी. वसतराज की जैनागम इतिहास दीपिके (कन्नड) पृ १३० देखे) आग्रायणीय पूर्व के २८० पाहुडों में से एक कम्मपयडिपाहुड की धरसेन स्वामी द्वारा चंद्रगुहा मे पुष्पदंत और भूतबलि स्वामी को उपदेश देने की बात विदित है। इससे यह समझ सकते हैं कि धरसेन स्वामी ने कम्मपयडिपाहुड ही नहीं, बल्कि आग्रायणीय पूर्व के विशाल श्रुतभाग को स्मृति में धारण किया था और चंद्रगुहा पहुँचने से पहले वेणातटाकपुर को

*केंद्र बनाकर विहार कर रहे मुनि संघ में जुडे थे* और जब तक जोणि *पाहुड की रचना कर ली थी।* चंद्रगुहा में रह रहे धरसेनाचार्य ने ग्रहण–धारण में समर्थ दो साधुओ को भेजने के आशय का पत्र वेणातटाक के निकट रह रहे जिस मुनि संघ को भेजा था, उस मुनिसंघ के महासेनाचार्य संघाधिपति थे, ऐसा ब्रह्मनेमिदत्त ने अपने आराधनाकथाकोश में कहा है। ऐसा मान्थ डॉ. हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम पुस्तक १ की प्रस्तावना में भी कहा है। ब्रह्मनेमिदत्त ने किसी आधार के बिना मुनिसंघाधिपति का यह नाभ नहीं बताया होगा, जैसा कि पीछे कह आए हैं। धरसेन के सेनगण के मुनिसंघ से संबंधित होने के कारण इनके मुनिसंघ के अधिपति का नाम महासेन होना उचित ही है। आर्यरक्षित (प्रभाचंद्र –धरसेन) आर्य वज्रसूरि के पास श्रुताध्ययन करते समय माता–पिता से बुलावा आने के कारण श्रुताध्ययन पूर्ण किए बिना ही माता–पिता के पास चले गए–श्वेतांबर आम्नाय के इस कथन का पीछे उल्लेख कर आए है। लेकिन मुनिव्रत धारण किए हुए व्यक्ति का माता–पिता का बुलावा आने पर उनके पास चले जाना मुनिधर्म के पालन की दृष्टि से उचित नहीं लगता। इसलिए यह समझ सकते है कि प्राय धरसेन स्वामी आर्यवज्रसूरि के दिवंगत होने के बाद वेणातटाक नगरी के आस–पास रहे सेनगण के मुनिसंघ से जा मिले।

भगवान महावीर के उपदेश के अर्थ को आत्मसात् किए गौतम गणधर स्वामी द्वारा रचित पवित्र द्वादशांग श्रुत के अंश को धरसेनाचार्य ने चंद्रगुफा मे रहते हुए पुष्पदत और भूतबलि आचार्यो को उपदेश दिया। चंद्रगुफा दिगबर समाज के लिए निश्चितरूप से एक पवित्र तीर्थ स्थान है। पूज्यपादस्वामी ने अपनी संस्कृत निर्वाण भक्ति पाठ में – **'श्रीमच्चन्द्रगुहावराक्षरशिलां' इस प्रकार स्तुति की है। इससे यह संकेत मिलता है कि इस चन्द्रगुफा को तीर्थस्थान के रूप में दीर्घकाल तक माना गया था। लेकिन समय बीतने पर इस का विस्मरण हो गया है। अब फिर इस गुफा को पहचानने के प्रयास किए जाने चाहिए। उसे पहचानकर दिगंबर जैन समाज इसे फिर तीर्थस्थान के रूप में पूज्यभाव से देखकर वहाँ पर यात्रा करने जाने की परंपरा शुरू करे। ऐसा होने**

**पर हमारे समाज में षट्खण्डागम श्रुत के महत्त्व के बारे में विस्तृत रूप से जागृति होगी- इसमें कोई संदेह नहीं है। हमारे समाज के कर्णधारों को इस दिशा में कार्यप्रवृत्त होने की आवश्यकता है।**

षट्खण्डागम में दृष्टिवादांग के चतुर्थ विभाग चतुर्दशपूर्वों में द्वितीय पूर्व आग्रायणीयपूर्व के पंचम वस्तु चयनलब्धि के बीस पाहुडों में चतुर्थ कम्मपयडिपाहुड सूत्र समाविष्ट होने के कारण इसे अतिशय सम्मानयुक्त महत्त्व प्राप्त है, यह तो ज्ञात ही है। इसी प्रकार चतुदर्शपूर्वों में ५ वें ज्ञानप्रवादपूर्व के १०वें वस्तु का तीसरा पाहुड पेज्जदोसविहत्तिपाहुड मूल के गुणधर स्वामी रचित गाहाएँ, यतिवृषभस्वामी के चूर्णिसूत्र और उच्चारणाचार्य रचित उच्चारण सूत्रों वाले कषायपाहुड को भी अत्यंत गौरवपूर्ण महत्त्व प्राप्त है।[१०८] यह कषायपाहुड उच्चारणाचार्य के उच्चारणसूत्रों की रचना के साथ लिपिबद्ध हुआ है— ऐसा समझना चाहिए। कुंदकुंदस्वामी इन दोनों षट्खंडागम और कषायपाहुड आगमों के ज्ञाता थे— ऐसा श्रुतावतार में कहा गया है। इससे यह समझना चाहिए कि कषायपाहुड षट्खंडागम की रचना के समकालीन रचना है।

'गुणधर आचार्य और धरसेनाचार्य के अन्वयक्रम (परंपरा) को बताने वाले आगम और मुनियों के अभाव के कारण उनके गुरुओं के पूर्वापर अन्वय क्रम हमें मालूम नहीं है— ऐसा इद्रनंदि आचार्य ने कहा है।[१०९] यदि पहले की समीक्षा मान लेते हैं तो धरसेन स्वामी का पूर्वापर अन्वय स्पष्ट सा हो गया है। अब गुणधर नाम के अन्त्य के 'धर' शब्द से यह संकेत मिलता है कि अर्हद्बलि स्वामी द्वारा प्रवर्तित पाँच संघों में एक वृषभ संघ है। इसकी चार शाखाओं में एक 'धर' शब्द से अन्त्य होने वाले नाम का मुनियों का गण था। इसलिए यह समझा जा सकता है कि गुणधर इस गण के मुनि थे। श्रुतावतार में आचारांग श्रुतधर के बाद आरातीय आचार्यों के नामो में प्रथम विनयधर नाम देखा जा सकता है। इसी प्रकार श्रीधर जैसे नामों को श्रवणबेलगोला के चिक्क हनसोगा के शिलालेखों मे और माघनन्दि के शास्त्रसार की अन्त्य प्रशस्ति में देखा जा सकता है। इससे यह समझ सकते हैं कि 'धर' इस पद से अन्त्य होने वाला मुनिगण दीर्घकाल तक था।

षट्खण्डागम और कषायपाहुड को आगम की मान्यता मिलने का विशेष कारण उनमें चतुर्दशपूर्वो मे दूसरे अग्रायणीयपूर्व और पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वो के अतर्गत पाहुड वस्तु के रूप मे है यह स्पष्ट किया जा चुका है। इन्हीं की तरह कुदकुद आचार्य की कृतियॉ भी आगम ग्रंथ ही है। वे पाहुड के नाम से ही प्रसिद्ध है। इन कृतियों के मूल स्रोत के बारे में मान्य डॉ. आ ने. उपाध्ये जी के अभिमत का उल्लेख करना उचित होगा। "दक्षिण में जैन समाज कुंदकुद आचार्य के समय मगध और अन्य प्रदेशों में रह रही प्रमुख धारा से अलग हुआ था। समाज को एक साथ उसके धार्मिक (आचरण सबधी) साहित्य की आवश्यकता थी। दुर्भिक्ष का समय बीतने के बाद दिगबरो ने आगम के नूतन सकलन के लिए प्रयत्न नहीं किया और उत्तर मे उनके श्वेताबर नामधारी भ्रातृवर्ग के कुछ लोगों के द्वारा पाटलीपुत्र मे रचित आगम को मौलिक नही है और कर्पट है (पेच वर्क) ऐसा दूषण लगाया। इसके परिणामस्वरूप दिगंबरों ने सब ग्रथों को गॅवाया। तब कुदकुद जैसे नेता को पारपरिकरूप से अपने गुरू, गुरूपितामहो से प्राप्त अग साहित्य के भागों या टुकडो की स्मृति का भरोसा कर उन्हें एकत्र करने का उपायान्तर मात्र रह गया था। इस प्रकार कुंदकुद ने अनेक छोटी—बडी कृतियों का सकलन व रचना की होगी।"[११०] मान्य आ ने उपाध्ये जी के इस अभिप्राय मे कुदकुद की कृतियो का अगश्रुत आधार है— यह ध्यान देने योग्य है। इनके अभिप्राय के शेष विषय के बारे मे आगे समीक्षा की जाएगी। पाहुड यह चतुर्दशपूर्व श्रुत के विभागो का नाम है। चतुर्दशपूर्वो के सब पाहुडों की संख्या ३६०० बताई गई है।[१११] इनमे से अनेक पाहुड सम्पूर्ण रूप से न सही विकल रूप से तो गुरू परम्परा से कुदकुद स्वामी को मिले थे। ये ही पचास्थिकाय पाहुड सग्रह आदि है। इन्होने ८४ पाहुडो का सकलन किया था। ऐसी अनुश्रुति है। इनके विकलरूप से प्राप्त होने के कारण परम्परागत गाहाओं के बीच पूर्वापर सबध स्थापित करने के लिए और जरूरत पडने पर अर्थ स्पष्ट करने के लिए कुदकुदाचार्य ने स्थान—स्थान पर कुछ गाहाएँ स्वयं लिखी है। लेकिन इनकी सख्या नगण्य है। इस प्रकार कुंदकुंदाचार्य की कृतियों का स्रोत सीधे चतुर्दशपूर्व है। इसलिए इनकी कृतियॉ षट्खण्डागम और कषायपाहुड की तरह अत्यधिक आदर सम्मानपूर्ण महत्त्व के आगम ग्रंथ ही

हैं। इसी प्रकार यति–वृषभ की तिलोयपण्णत्ति को भी आगम के रूप में पूज्यभाव से देखा गया है।[११२] यह जैसा इस समय है उसमें लगभग तीन में से एक भाग प्रक्षिपप्त है। इस बारे में मान्य सिद्धान्तकोविद् पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ने अनुसन्धान कर मूलरूप में तिलोयपण्णत्ति न होने का प्रतिपादन किया है। इस बात को मान्य डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने बताया है।[११३] कुंदकुंदस्वामी की कृतियाँ और यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति की तरह वट्टकेर स्वामी का मूलाचार और शिवार्य की भगवती आराधना कृतियों को भी आगम कृतियों की मान्यता प्राप्त है।

(तृ) भद्रबाहुस्वामी के बाद के मुनिसंघाधिपति का आचार्यानुक्रम और लिपिबद्ध षट्खण्डागम सूत्र और कषायपाहुड आगमों की रचना तक के अनुक्रम को रेखांकित रूप से आगे दिखाया गया है। आचार्यानुक्रम को नंदि आम्नाय पट्टावली के अनुसार कुंदकुंद स्वामी तक दर्शाया गया है। अर्हद्बलि द्वारा व्यवस्थित पाँच संघों में नंदि संघ से अन्य संघों का आचार्यानुक्रम समझ में नहीं आ रहा है। पुन्नाट जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण में सेनगण की आचार्य परम्परा बताई गई है पर उसमें वीरसेनाचार्य और इनके पूर्व गुरुपरम्परा के आचार्यों के नाम नहीं दिए जाने के कारण वह सेनसंघ की एक शाखा की आचार्य परंपरा से संबंधित है – ऐसा समझना होगा।

इस प्रसंग में एक प्रमुख बात स्पष्ट करना आवश्यक है :– लिपिबद्ध आगम श्रुतप्रवर्तन के साथ अर्थात् षट्खण्डागम और कषायपाहुडों की रचना के साथ कम्मपयडि और पेज्जदोसविहत्ति पाहुड श्रुतज्ञान के अलावा शेष सब श्रुतज्ञान लुप्त हो गया ऐसा नहीं समझना चाहिए। समस्त अंग पूर्व श्रुतज्ञान कुछ समय तक तो आगे बढा है इसमें कोई संदेह नहीं है। कुंदकुंदाचार्य, यतिवृषभ स्वामी, उच्चारणाचार्य, वट्टकेरस्वामी, शिवार्य इन सबकी कृतियों का अंगपूर्व श्रुत का एकदेश ज्ञान ही मूल आधार है यह पीछे कह चुके हैं। इसी प्रकार षट्खण्डागम और कषायपाहुडों के अनेक टीकाकारों का टीका रचना के लिए भी अंगपूर्व श्रुत का एकदेश ज्ञान ही आधार है न कि अन्य। श्वेतांबर आगम ग्रंथों की गाथाओं के साथ

या विषय के साथ साम्य रखनेवाली गाथाएँ या विषय दिगंबर सिद्धान्त आगम ग्रंथों में मिलने पर उन्हें श्वेतांबर ग्रंथों से है ऐसा उद्धृत कहना दिखाई देता है। उदाहरण के लिए पूज्य आचार्य नगराज डी.लिट् की एक बात कहनी है (इन महानुभावों के बारे में इस प्रबंध के लेखक को आदरभाव है।, जोणिपाहुड, उसके कर्त्ता धरसेन, षट्खंडागम, कषायपाहुड इनकी टीकाएँ, धवला और जयधवला, इन टीकाओं के रचयिता वीरसेन इनके बारे में पूज्य आचार्य नगराज जी के कथन उनकी अनुपम सहृदयता, सद्भाव, मानसिक उदारता को दर्शाते हैं। पर उनके कथन में दिखाई देने वाले असमंजस को प्रस्तुत करने पर वह उनके प्रति अनादर नहीं होगा। उन्होंने कहा है कि 'टीकाकार (वीरसेन) ने उस समय तक उपलब्ध दिगंबर–श्वेतांबर साहित्य का निस्संकोच रूप से उपयोग किया है'।'[११३९] लेकिन वीरसेनाचार्य के टीका लिखने के बारे में उपलब्ध इतिवृत्त से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने पूर्वपंरपरा से दिगंबर परंपरा मे आए टीका ग्रंथ और अपने गुरू के उपदेश के आधार पर अपनी टीका लिखी'। श्वेतांबर कृतियों का आधार लिया है' ऐसा कहने का कोई आधार नहीं है। दक्षिण के जैन श्रुत भडारों में जैनधर्म के ताडपत्र तो मिलते ही हैं इनके अलावा अजैनों के भी ग्रथ मिले हैं। यदि वीरसेनाचार्य ने श्वेतांबर ग्रंथो का उपयोग किया होता तो उनका एकाध ग्रथ जैन श्रुत भडारों में रहना चाहिए था।

इसलिए 'वीरसेन या किसी और आचार्य ने श्वेतांबर ग्रथो का उपयोग किया है' –ऐसा कहना निराधार होगा। अपने संप्रदाय, अपने धर्म की महानता दिखाने के लिए श्वेताबरो ने ऐसा कहा हो तो वह उतना आतककारी नही होता। लेकिन दिगंबर जैन विद्वानों का भी बिना सोचे ऐसी बाते कहना वास्तव मे आतककारी बात होगी। वस्तुतः बात यह है कि श्वेताबर आगम कृतियो के लिपिबद्ध होने से लगभग ३०० वर्ष पहले ही षट्खण्डागम और कषायपाहुडों की टीकाएँ लिखना आरंभ हुआ है और इस परपरा मे एकदेशरूप अगपूर्व श्रुतज्ञान सुरक्षित था। एक समय दिगबर और श्वेताबरो के पूर्वजों अगपूर्व श्रुत अभिन्न रूप से एक ही था। उस मूल की गाहाएँ और उक्तियाँ दोनो सम्प्रदायों में समानरूप से आई

हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसलिए श्वेतांबर सिद्धान्त ग्रंथों की गाथाओं या उक्तियों से मिलती –जुलती गाथाएँ या उक्तियाँ दिगंबर सिद्धान्तग्रंथों में मिलें तो उन्हें 'श्वेतांबर ग्रंथों से ली गई हैं' ऐसा कहना मात्र बिना सोचे समझे कही गई बात है।

## आगम पद जिज्ञासा

'आगम' शब्द का अर्थ इस प्रबंध के आरंभ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। श्वेतांबर पंथ की आगम कृतियों को सार्वत्रिकरूप से आगम गिना गया है। दिगंबरपथ में षट्खण्डागम और कषायपाहुडों को प्राचीन समय से ही आगम माना गया है। फिर भी ये सही अर्थ में आगम नहीं हैं– ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया जाता है। 'बहुत समय पहले ही जैन आगम कृतियॉ नष्ट हो गईं और श्वेतांबर आगमकृतियॉ मौलिक नहीं है– ऐसी दिगबरों की धारणा है और दिगंबरों के पास दूसरे दर्जे का (सेकेन्ड्री) या प्रातिनिधिक आगम है।[११४] आगे वी.नि.स. ६८३ के आस पास जैन आगम पूरी तरह से नष्ट हो गया' ऐसी मान्यता है।[११५] इसी प्रकार का अभिप्राय अन्य विद्वानो ने भी व्यक्त किया है।[११६] इस संबध मे मान्य ए.एन् उपाध्ये का कथन ध्यान देने योग्य है – (यहॉ स्पष्टीकरण के लिए एक बात की आवश्यकता है। इस कृति के लेखक को डा० ए.एन उपाध्ये जी गुरु समान पूज्य हैं। अत. जो कुछ यहॉ इन के अभिमतों का प्रस्तुतिकरण किया है वह सिर्फ हमारे आगम के यथार्थता के बारे में जो मेरा मन्तव्य है केवल उसके स्ष्टीकरण के लिए है, इसमे कोई अनादर भाव नहीं है) 'दिगंबरो ने वास्तविक आगम मे अति आसक्ति के कारण आगम का न तो स्वयं पुनरूत्थान किया और न पाटलीपुत्र सम्मेलन में बने आगम को स्वीकार किया, इसके परिणामस्वरूप (दिगंबर) समाज ने पवित्र द्वादशांग आगम को पूर्णतया गॅवा दिया।' इस प्रसग मे प्राचीन विद्याध्ययन पद्धति पर ध्यान देना चाहिए। उस समय गुरू और शिष्य, लिखित पुस्तक आदि ज्ञान सामग्रियो से अधिक, अपनी स्मरणशक्ति पर ही निर्भर रहते थे। इसे ध्यान मे रखकर इस प्रकार अनुमान लगा सकते हैं। दक्षिण मे दिगंबरों में प्रमुख आचार्य जरूरत पडने पर अपने गुरूओ के पास अध्ययन कर, प्राप्त

ज्ञान का उपयोग कर, समाज की धार्मिक आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए छोटे–छोटे प्रकरणों (ट्रिटैसस) की रचना करते होंगे, लेकिन पवित्र आगमों के रूप में नहीं। जिसे 'आगम' माना गया था वह (द्वादशांग श्रुत) पुनरूद्धरण न किए जा सकने की तरह लुप्त हो चुका था, इसलिए इनके द्वारा *रचित प्रकरण, पूर्वपरम्परा के गुरूओ से प्राप्त स्मृति टिप्पणियाँ* (मेमोरी नोट्स) थीं और इस साहित्य वर्ग में पुष्पदन्त, भूतबलि, वट्टकेर, कुन्दकुन्द और शिवार्य की कृतियॉ आती हैं। इनकी कृतियों की भाषा मूल परम्परा के (पाटलीपुत्र) आगम में सुरक्षित अर्धमागधी के अनेक लक्षणों से संयुक्त है।[११७] "इन प्राचीन जैन शौरसेनी कृतियों को मैं (प्रोकेनानिकल टेक्स्ट) बदली आगम या 'प्रतिनिधिक' आगम कृतियॉ कहता हूँ," ऐसा मान्य डॉ आ.ने उपाध्ये जी ने कहा है।[११८]

पीछे कुंदकुद आचार्य की कृतियों के मूल स्रोत के बारे में कहते समय 'दिगबरो ने अपने भ्रातृवर्ग से पाटलीपुत्र मे रचित आगम को मौलिक नहीं है, कर्पट है ऐसा कहकर तिरस्कार किया। इसके परिणास्वरूप पूर्णतया सब (आगम) ग्रंथो को गॅवा लिया' मान्य डॉ आ ने. उपाध्ये जी के इस कथन का उल्लेख किया है। लेकिन दिगबरो ने कब इसका तिरस्कार किया, इस तिरस्कार की बात कहॉ कही गयी है– यह तो स्पष्ट नहीं किया है। मान्य डॉ आ ने. उपाध्ये द्वारा कही गई यह तिरस्कार वाली बात कुदकुद आचार्य के समय के आस–पास से संबंधित होने के कारण उस समय के दिगंबर साहित्य में यह तिरस्कार वाली बात होनी चाहिए। लेकिन ऐसी बात न तो कुदकुद आचार्य की रचनाओं मे पाई जाती है और न किसी अन्य आचार्य की रचनाओ मे ही। अब श्वेताबर आगम को कर्पट कहने की बात इन दिनो की हो सकती है न कि कुंदकुंद आचार्य के आस पास के समय की। इतना ही नही मैंने पहले स्पष्ट किया है कि पाटलीपुत्र मे आगम साहित्य का सकलन हुआ ही नहीं। इसलिए दिगबरों द्वारा कुदकुदाचार्य के समय मे उस साहित्य के तिरस्कार किए जाने की बात उठती ही नही। अब 'दिगबरो ने सही अर्थ में आगम कहे जा सकने वाले अर्थात् द्वादशांग को पूर्णरूप से गॅवा लिया और पुष्पदंत आचार्य आदि आचार्यो द्वारा रचित जो कृतियॉ है वे इन आचार्यो के द्वारा अपने गुरूओं

से उपदेश प्राप्त कर, स्मृति में धारण किए हुए विषय (मेमोरी नोट्स) को (अपनी सीखी हुई) प्राकृत भाषा में रचित कृतियाँ हैं, ऐसा मान्य डॉ. आ. न. उपाध्ये जी ने कहा है। इस बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि पुष्पदंत आचार्य आदि आचार्यो द्वारा रचित कृतियों की भाषा जैन शौरसेनी है ऐसा पहले से ही मान्य डा आ.ने. उपाध्ये जी ने निश्चय कर अपने अभिप्राय (पूर्वाग्रह) के समर्थन के लिए इन सब कल्पनाओं की सृष्टि की है। यहाँ एक प्रश्न उठता है: डॉ. उपाध्ये ने कहा है कि दिगंबरों ने (द्वादशांग) आगम को पूरी तरह से (थोड़ी भी सुरक्षित न रहने की तरह) गँवा दिया है। यह तो कल्पना की बात है। क्योंकि दिगंबर श्रुतधर आचार्यानुक्रम और लिपिबद्ध आगम (षट्खण्डागम) के इतिवृत्त पर ध्यान देने पर सब अंग और पूर्व श्रुतज्ञान एकदेश रूप से सुरक्षित रहने और उसके आधार पर लिपिबद्ध आगम की रचना होने की बात बिल्कुल स्पष्ट होती है। ऐसी स्थिति में 'दिगबरों ने पूरी तरह से आगम गॅवा लिया है'— इनका यह कहना कितना सच है? यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इनका दिगंबर आम्नाय के श्रुतधर आचार्यानुक्रम के इतिवृत्त पर बिल्कुल विश्वास नही है परंतु इसी प्रकार के श्वेतांबर इतिवृत्त पर तो विश्वास व्यक्त किया है। यह स्पष्ट है कि श्वेतांबरों द्वारा पाटलीपुत्र में आगमोत्थान पर इन्होंने पूर्ण विश्वास किया हैं। भगवान महावीर के उपदेश की भाषा अर्धमागधी भाषा है वह पाटलीपुत्र में आगम के सकलन के समय में उसी प्रकार सुरक्षित थी और वह उनके द्वारा सकलित आगम में अभी भी सुरक्षित है— ऐसा इनका अभिप्राय है। लेकिन इस बारे मे उन्हीं के कथन का हवाला देते हुए एक प्रश्न पूछना है कि पाटलीपुत्र में सम्मिलित साधुओं में जिनको जितना—जितना आगम याद था उतना—उतना संकलन कर एकादशांग आगम की रचना की गई, यह श्वेताबर पंथ का ही कथन है। लेकिन पुष्पदंत आदि आचार्यो की कृतियॉ इन के ही कथनानुसार जैसे मेमोरी नोट्स है वैसे पाटलीपुत्र मे संकलित कहा जाने वाला एकादशांग आगम भी मेमोरी नोट्स क्यों नहीं हो सकता? यह प्रश्न है। वस्तुतः डा. उपाध्ये ने पाटलीपुत्र में संकलित कहे जाने वाले श्वेताबर पंथ के आगम के इतिवृत्त की यथार्थता की समीक्षा किए बिना ही उस को यथार्थ आगम मान लिया है। तदनंतर 'उस आगम को स्वीकार न करने वाले दिगबरों

ने परिणामस्वरूप पूरी तहरह से आगम को गँवा लिया' ऐसी घोषणा करना, इनके द्वारा सत्य का किया हुआ अपचार है। इतना ही नहीं पुष्पदन्त आचार्य आदि आचार्यों की कृतियॉ परंपरागत मौलिक प्राकृत भाषा की न होकर इन आचार्यो द्वारा प्रयुक्त भाषा जैन शौरसैनी की हैं यह सही अर्थ में पवित्र (द्वादशाग की मान्यता वाले) आगम न होकर प्रोकेनानिकल अर्थात् बदली आगम या प्रातिनिधिक आगम हैं' ऐसा इनका कथन क्या सत्य है ?

इस प्रसंग में दिगंबर पंथ के आगम के बारे में आई परंपरागत मान्यता की समीक्षा करना आवश्यक है. कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि –

**"सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं" आइरिय-परंपरेण मग्गेण।**
**णाऊण दुविहसुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो ।।२।।**
***(सुत्त पाहुड)***

(आगम) मे अच्छी तरह से कहे हुए दो प्रकार के सूत्र को आचार्य परंपरा के मार्ग से जानकर भव्य मोक्षमार्ग में स्थित होता है। यहाँ पर सुत्त यह आगम का पर्यायवाची है– इस सबंध में कोई विवाद नहीं है, आइरिय परंपरेण मग्गेण – यह निश्चित रूप से कुदकुंदाचार्य के समय तक आचार्य परंपरा से आए हुए आगम का सूचक है । 'दुविह सुत्तं' यह भावश्रुत और द्रव्यश्रुत अथवा पदश:, अर्थश: ऐसे दो प्रकार का सूचक होगा। इतना ही नहीं श्रुतावतार के कथनानुसार षट्खंडागम और कषायपाहुड दोनो आगम जो कुंदकुंदाचार्य को प्राप्त हुए थे, वही परोक्षरूप से इन द्विविध आगम कृतियो के सूचक हो तो कोई आश्चर्य नहीं लगता। कुदकुंदाचार्य के समय उपलब्ध श्रुतधर आचार्यानुक्रम के इतिवृत्त के अनुसार सब अग पूर्वो का एक–देशात्मक श्रुतज्ञान था।श्रुतज्ञान के संबध मे ही ऊपर की गाथा में आचार्य ने सूचना दी है इसमे कोई संदेह नहीं है और यह भी स्पष्ट है कि ऊपर कि गाथा मे सूचित (सुत्त) आगम के बारे मे द्वादशाग श्रुत जैसा ही पूज्यभाव है। इसी प्रकार दिगबर आचार्य परपरा मे आगत धार्मिक सिद्धान्त ग्रंथो को, विशेष रूप से षट्खण्डागम को आगम प्रामाण्य दिखाने के लिए आदरभाव से उल्लेख करने के अनेक

('तृ') भद्रबाहु स्वामी
उपान्त्य आचाराग श्रुतधर और शेष सब अग–पूर्वश्रुत के
एकदेशज्ञ आचार्य (मूलसघ)
(आचार्य पद वी नि सं ६१०–६३३)

- मुनिसघ आचार्यनुक्रम
  - मूलसघ
    अर्हद्बलि–गुप्तगुप्तिस्वामी
    (६३३–६४३)
    - पचस्तूपान्वय
      - नदिसघ
        बलात्कार गण
        सरस्वती गच्छ
        - १ माघनदिस्वामी (६४३ – ६४७)
        - २ जिनचद्र स्वामी (६४७ – ६५५)
        - ३ कुँदकुँदस्वामी (६५५–७०७–८)
      - देवसघ
      - अपराजितसघ
      - वृषभसघ
      - भद्रसघ
- श्रुतधर आचार्यानुक्रम
  - लोहाचार्य– धरसेनस्वामी
    अतिम आचाराग श्रुतधर और
    शेष सब अग–पूर्वश्रुत के
    एकदेश ज्ञाता ६३३–६८३
    पुष्पदन्त स्वामी और
    भूतबलि स्वामी प्रथम लिपिबद्ध
    श्रुत के प्रवर्तक
    (षट्खडागम के रचयिता)
  - गुणधर स्वामी
    - आर्यमखुस्वामी और
      नागहस्तिस्वामी
      - यतिवृषभ स्वामी
        - उच्चारणाचार्य
          (कषायपाहुड लिपिबद्ध)
          (आगम श्रुत के रचयिता)
  - (दोनों शाखाओं से) कुँदकुँदस्वामी, दोनो आगमो के
    प्रथम ज्ञाता और षट्खडागम के
    प्रथम तीन खडो के प्रथम
    ('परिकर्म') टीकाकार

दृष्टान्त हैं। इस बारे में पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि और अकलंकदेव (तत्त्वार्थभाष्य) राजवार्तिक विशेष उल्लेखनीय है। अब षट्खंडागम आदि कृतियों को आगम के रूप में गणना करने में एक आपत्तिजनक बात कही गयी है। षट्खंडागम आदि आगम, उपलब्ध इतिवृत्त के अनुसार द्वादशांग के बचे हुए अवशेष भाग मात्र हैं, उन्हें आगम समझना क्या उचित है? इस बारे में श्वेतांबरों में आगम की मान्यता प्राप्त कृतियों के निदर्शन के साथ तुलना की जा सकती है। द्वादशांग में बारहवें दृष्टिवादांग साहित्य के साथ तुलना करते समय एकादशांग श्रुत अत्यंत अल्पप्रमाण वाला है श्वेतांबरों के मतानुसार ही दृष्टिवादांग पूरी तरह से नष्ट हुआ है और जो शेष भाग एकादशांग है उसको आगम की मान्यता है। उसी तरह दृष्टिवादांग के शेष रूप षट्खंडागम आदि कृतियों को आगम क्यों नहीं समझा जाए? यह प्रश्न उठता है। इस समय उपलब्ध श्वेतांबर पंथ का एकादशांग आगम भी क्या मौलिक है परिपूर्ण है ? इन बातों की समीक्षा की जानी चाहिए। इस बारे मे श्वेतांबरपंथ के अग्रगण्य विद्वान मान्य एच.आर. कपाडिया के कथन पर ध्यान दिया जा सकता है ।[११६] "आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययनों में ७वें या समवायांग के कथनानुसार ६वाँ अध्ययन महापरिण्ण शीलांकसूरि के समय (१०वीं शताब्दी में) नष्ट हो चुका था। दूसरे श्रुतस्कंध में भद्रबाहुस्वामी के समय में उपलब्ध निसीहचूला अब नहीं मिलती। नंदि के निरूपण आधार पर कहा जाए तो इस समय उपलब्ध नायाधम्मकहा अंग सिर्फ समुद्र की एक बूँद की तरह है। इसकी शताधिक आख्यायिकाएँ, उपाख्यायिकाएँ और आख्यायोपाख्यायिकाएँ नष्ट हो चुकी हैं। ७ से ११ तक के अंग संख्यात सहस्र पदवाले थे ऐसा नंदि में (सू. ५२ – ५६ में) कहा गया है। अब ये भी पूर्णरूप से नहीं मिलते । १०वें अंग में समाविष्ट वस्तु के बारे में नंदि के विवरण के आधार पर इस समय उपलब्ध पण्णवागरण के प्रमाण की समीक्षा करने पर यह कह सकते हैं कि यह अंग कभी का लुप्त हो चुका था और उसके समान किसी ने रचना कर उसको वह नाम दिया है, अथवा इस समय उपलब्ध पण्णवागरण प्राचीन का एक अंश मात्र है और यह नंदि के निरूपण में गलती हो गई है ऐसा समझा जा सकता है।" इसी प्रकार पूज्य मुनि नथमल युवाचार्य महाप्रज्ञ के कथन पर ध्यान देना आवश्यक है।[१२०]

'श्वेतांबरों की मान्यता के अनुसार आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप अधिकतर लुप्त हो गया किंतु पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। तीन बार संकलित अंग और उपांगों में मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उनमें उत्तरकालीन घटनाएँ और विचार सम्मिलित हुए है। स्थानांग में ७ निह्नव और ६ गुणों का उल्लेख इसका प्रबल प्रमाण है। प्रश्न व्याकरण के विषय के विवरण के बारे में जैसा कि अन्यत्र दिखाई देता है, इस समय उपलब्ध प्रश्न व्याकरण में उपलब्ध नहीं है। इसके बावजूद अंगों का अधिकतर भाग मौलिक है। भाषा और रचनाशैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। रचना शैली की दृष्टि से अन्य सब अंगों से भिन्न है। आजकल के भाषाशास्त्री उसे ढाई हजार वर्ष पुराना बताते हैं। सूत्रकृतांग, स्थानांग और भगवती (सूत्र) भी प्राचीन है– इसमें कोई संदेह नहीं है। आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।"[१२१] इन कथनों की समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि इस समय उपलब्ध श्वेतांबर आगम मूल एकादशांग श्रुत का मौलिक रूप न होकर एकदेश रूप से उसके अवशिष्ट भाग वाला है। इसके अलावा यह भी स्पष्ट होता है कि उसमें भाषा की एकरूपता न होकर भाषा के मौलिक स्वरूप को गँवा दिया गया है। इसके बावजूद मान्य डॉ आ.ने. उपाध्ये ने इस आगम को पवित्र मूल द्वादशाग श्रुत की मान्यता दी है। लेकिन अविच्छिन्न परम्परा से आए लिपिबद्ध कम्मपयडिसूत्र–षट्खंडागम और अन्य कृतियों को पवित्र द्वादशांग श्रुत की मान्यता न देकर प्रोकेनन (बदली आगम) अथवा प्रातिनिधिक आगम कहा है, इसके बारे में निष्पक्ष होकर विद्वत् समाज को ही समीक्षा करनी है।

## दिगंबर आगम कृतियों की भाषा

दिगंबर आगम की प्राकृत भाषा की शब्द रचना और व्याकरण संबधी लक्षणो का विवेचन कर विद्वानों ने कई ग्रथ लिखे हैं। ऐसे ग्रथो में मान्य आर पिशेल के **'ए ग्रामर ऑफ दि प्राकृत लैंग्विजिस'** को अधिक मानयता मिली है। इसमें बताए गए लक्षणों को ही मुख्यरूप से स्वीकार कर प्रमुखता से कुंदकुदाचार्य के प्रवचनसार की भाषा के स्वरूप को मान्य डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने स्पष्ट किया है। इनके अभिमत[१२२] को भी अधिकतर

मान्यता मिली है। इसके अलावा प्रो. डॉ. सत्यरंजन बैनर्जी की **'ऑन दि लैंग्विज ऑफ दि षट्खण्डागम'** रचना[१२३] अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। प्राकृत भाषा के किसी एक प्रकार के लक्षण–विवेचन की सिर्फ व्याकरण की दृष्टि से समीक्षा करना पर्याप्त नहीं होगा अपितु काल, देश, परिवेशों को ध्यान में रखकर विवेचन करना पडता है। पहले श्वेतांबर आगम कृतियों के प्राकृत लक्षण के अनुशीलन में थोडा सा अनुशीलन किया गया है। अब पुनः दिगंबर आगम कृतियों के भाषा लक्षण का भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अनुशीलन करने की आवश्यकता है।

मान्य डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने दिगबर जैन आगम कृतियों का उनमें भी प्रमुख रूप से प्रवचनसार की भाषा का अनुशीलन करते समय बार–बार अर्धमागधी भाषा का उल्लेख किया है। इनके अनुसार "परंपरागत श्वेताबर आगम मौलिकरूप से अर्धमागधी मे सुरक्षित था। पुष्पदन्त आदि आचार्यो की कृतियॉ जिस भाषा में लिखी हुयी हैं उसमें वंशपारंपरिक रूप से अर्धमागधी के लक्षण समाविष्ट है।"[१२४] स्पष्ट है कि यहॉ पर अर्धमागधी को जैनागमों की मौलिक भाषा बताया गया है।

विद्वानो के अभिप्राय के अनुसार 'प्राचीन समय में उत्तर भारत में प्राकृत की शौरसेनी और मागधी उपभाषाएँ प्रचलित थीं। मागधी विस्तृत अर्थ मे कहा जाए तो पूर्व क्षेत्र मे फैली हुई थी और शौरसेनी पश्चिम क्षेत्र मे।[१२५] कुछ विद्वानों ने अर्धमागधी को भी प्राचीन स्तर में गिना है। शौरसेनी नाम शूरसेन प्रदेश से संबधित है। इसी प्रकार मागधी मगध देश से सबध रखती है। इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि इन प्रदेशों मे प्राकृत की ये उपभाषाएँ– अधिक फैली हुई थीं। लेकिन यह स्पष्ट है कि अर्धमागधी ऐसे किसी निर्दिष्ट क्षेत्र से संबंध नहीं रखती थी। जैन धर्म ग्रथो के कथनानुसार यह एक दैवी (देवकृत) भाषा है, सब तीर्थकरो के उपदेश की दिव्य भाषा है। इस प्रकार यह भगवान महावीर के उपदेश की दिव्य भाषा है, सर्वभाषामयी भाषा है। इस भाषा के इस लोकोत्तर (अलौकिक) दैवी लक्षण को पीछे बता दिया है। व्यावहारिक रूप से कहे तो यह भाषा जन सामान्य मे प्रचलित भाषा नहीं थी। अब आगम के कथनानुसार

दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ही आम्नायों के अनुसार तीर्थंकर अर्थकर्ता हैं उसी प्रकार भगवान महावीर भी अर्थकर्ता हैं। इनके उपदेश के अर्थ या विषय को ग्रहण कर गणधरों ने द्वादशांग श्रुत–आगम की रचना की है। इसके अनुसार ग्रंथ रूप धारण किए द्वादशाग श्रुत की भाषा गणधरों की भाषा है, दिगंबर आम्नाय के अनुसार वह गौतम गणधर की भाषा है। श्वेतांबर आम्नाय के अनुसार वह सुधर्म गणधर की भाषा हैं। भगवान तीर्थंकर के अर्थकर्तृत्व (उपदेश) को दैवी अर्धमागधी के संबंध निमित्त से द्वादशांग श्रुत भाषा को मात्र औपचारिक रूप से 'अर्धमागधी' कह सकते हैं। इस समय उपलब्ध आगमों की भाषा के अनुशीलन से यह कह सकते हैं कि द्वादशांग श्रुत की भाषा शौरसेनी और मागधियों की मिश्रभाषा थी। कुछ विद्वानों ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है।[१२६] गौतम गणधर को मूल परंपरा का द्वादशांग श्रुत शौरसेनी प्राकृत की अधिक व्यापकता के साथ मागधी प्राकृत से मिला होगा। श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण भारत को प्रयाण किए मुनिसंघ के अन्वयक्रम में यह द्वादशांग श्रुत कालक्रमानुसार अपने विशालकाय को गँवा बैठा, अतः सब अंगों और पूर्व श्रुत का एकदेश ज्ञान शेष रहा। दक्षिण भारत इस अन्वय के मुनिसंघ का प्रमुख विहार क्षेत्र रहा। दक्षिण भारत की भाषाएँ प्राकृत मूल की न होने के कारण आगम की भाषा पर दक्षिणभारत की भाषाओं का प्रभाव पडने का अवसर नहीं था। इसलिए इस अन्वय के आगम की भाषा अपनी मौलिकता को अधिक रूप में सुरक्षित रखे रही। लेकिन सुधर्म गणधर की मूल परंपरा के द्वादशांग श्रुत की स्थिति कुछ अलग ही है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के साथ दक्षिण भारत को प्रयाण न कर उत्तर भारत में ही रहे स्थूलभद्रसूरि के नेतृत्व के मुनि संघ का प्रमुख विहार–क्षेत्र पाटलीपुत्र नगर के आस–पास का मगध देश था। इसलिए यह मुनिसंघ और इसके अन्वय के मुनि मागधी भाषा से विशेष रूप से प्रभावित हुए होंगे, इस कारण यह कह सकते हैं कि उन मुनियों की स्मृति में रहे अंग पूर्व श्रुत की भाषा भी मागधी भाषा से विशेष रूप से प्रभावित होकर उसकी अधिक व्यापकता से युक्त हुई।

पुष्पदन्त और भूतबलि स्वामी द्वारा धरसेन स्वामी से श्रुत का उपदेश प्राप्त करने की घटना दिगंबर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हुई है। इस उपदेश दिए जाने के संदर्भ के कथन में ऐतिहासिक तथ्य भरे हैं। गुरू परंपरा से कम्मपयडिपाहुड को इन्होंने सिर्फ अर्थमात्र से ही स्मृति में धारण नहीं किया था, अपितु पदशः—अर्थशः धारण किया था। गौतम गणधर की रचना के द्वादशाग के एकदेश श्रुत रूप से गुरू परम्परा के अनुक्रम से अपने को प्राप्त इसे सुयोग्य (पात्र) शिष्यों को न देने पर अपने द्वारा श्रुत की हानि होगी इस भय से 'ग्रंथ विच्छेदो होहिदित्तिभयेण—ग्रहण— धारण में समर्थ दो मुनियों को भेजने के अभिप्राय का संदेश महिमा नगरि में[१२७] सम्मिलित दक्षिणाचार्यों को प्रवचनवत्सल धरसेनाचार्य भेजते हैं। इसके अनुसार वे आचार्य ग्रहण—धारण में समर्थ दो साधुओं को भेज देते हैं। यहॉ पर 'ग्रंथ विच्छेदो होहि दित्ति' से यह स्पष्ट होता है कि धरसेनाचार्य ने कम्मपयडिश्रुत के ग्रंथ को (पाठ को) स्मृति में धारण किया था। इसी प्रकार 'ग्रहण—धारण समर्थ साधु' यह उक्ति धरसेन द्वारा उपदिष्ट कम्मपयडिपाहुड ग्रंथ को शब्दशः और अर्थशः ग्रहण व धारण अर्थात् स्मृति में धारण करने में समर्थ थे, इस अभिप्राय का होना भी स्पष्ट होता है। इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि स्वामी का गुरूपदेश से प्राप्त कम्मपयडि पाहुड मात्र मेमोरी नोट्स नहीं था। गुरूपदेश से प्राप्त कम्मपयडिपाहुड ग्रंथ को सूत्ररूप में रख इन्होंने षट्खण्डागम की रचना की है। इसलिए षट्खण्डागम की भाषा, गौतम गणधर ने द्वादशांग श्रुत की रचना जिस (प्राकृत) भाषा में की थी, वही भाषा है। यह पुष्पदन्त और भूतबलि स्वामी द्वारा अपने समय में प्रचलित प्राकृत भाषा को सीखकर, प्रयोग में लाई हुई भाषा कदापि नहीं है। पुष्पदन्त और भूतबलिस्वामी दोनों दक्षिण के हैं। पुष्पदत बनवासी (उत्तर कन्नड, जिला कर्नाटक) के हैं। इनकी मातृभाषा कन्नड है । भूतबलि स्वामी दक्षिण मथुरा (मदुरै) के आस—पास के तमिलनाडु के हैं। इनकी मातृभाषा तमिल है। यह प्रश्न उठता है कि इन्होंने उस समय प्रचलित प्राकृत भाषा कहॉ सीखी? मान्य उपाध्ये जी के मतानुसार षट्खण्डागम आदि कृतियों की भाषा जैन शौरसेनी है, इसमें जो गाढ शौरसेनी का रंग है उसमें निश्चितरूप से मध्यभारत का प्रभाव कारण है।[१२८] इससे यह अर्थ निकलता है कि

पुष्पदन्त और भूतबलिस्वामी दोनों ने मध्य भारत जाकर प्राकृत सीखी है और सीखी हुई उस भाषा में षट्खण्डागम की रचना की है। लेकिन यह प्रश्न उठता है कि मध्य भारत जाकर इन्होंने प्राकृत भाषा सीखी है इसके लिए किस अनुश्रुति का आधार है? यह सब 'पुष्पदन्त स्वामी आदि आचार्यों द्वारा रचित कृतियों की भाषा जैन शौरसेनी है', इस पूर्वाग्रह के समर्थन के लिए कल्पित विचारधारा है और कुछ नहीं। श्वेतांबर पंथ के साधुओं में सदियों बाद दुर्भिक्ष के कारण आगम याद न रहने पर भी 'जिस –जिस साधु को जितना–जितना आगम याद था वह सब आगम का ही विषय न होकर मौलिक अर्धमागधी भाषा माध्यम में ही स्मृति में था"। यदि इसे यथार्थ मान सकते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि मात्र दिगंबर साधुओं में वह भाषा विस्मृत हो गई ऐसा कहना आखिर कैसा सहेतुक व सत्यनिष्ठ होगा? भगवान महावीर के निर्वाण के बाद (६२+१००+१८३+२२०) ५६५ वर्ष तक अविच्छिन्न एकादशांग श्रुत और बारहवें अंग का एकदेशात्मक ज्ञान उसकी मौलिक भाषा के माध्यम से ही सुरक्षित था। इस समयोपरान्त भी सम्पूर्ण आचारांग श्रुत और शेष सब अंगों का एकदेशात्मक ज्ञान भी अपनी मूल भाषा के माध्यम से ही सुरक्षित था, इसे नकारा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में 'मेमोरी नोट्स के सहारे से जो षट्खण्डादि आगमग्रन्थ रचे हुए हैं वे (मौलिक द्वादशांग की भाषा में न हो कर) जैन शौरसेनी भाषा में रचे गए हैं – इस बात की असमीचीनता स्वतः स्पष्ट है।

अब षट्खण्ड आदि आगमो की भाषा मौलिक भाषा है– यह दृढता से दिखाने वाले आधार पर ध्यान देना है। इसके लिए कुंदकुंदाचार्य के कथन का उल्लेख करना होगा– 'जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ, भाषासूत्रों में शब्दरूप धारण किया और उसी प्रकार कहा हुआ वह श्रुत भद्रबाहु के शिष्य (कुंदकुंद) द्वारा जाना गया।'[१२९] यहाँ पर कुंदकुंद स्वामी के समय तक आगम के अपनी मौलिक भाषा माध्यम में सुरक्षित रहने की बात स्पष्ट रूप से कही गई हैं। इसके अलावा इस बारे में वीरसेन स्वामी के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए। 'साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथित शब्द संदर्भ प्रवाहरूपतया निधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलंक–मुत्तरसूत्रं पुष्पदन्त भट्टारकः प्राह।[१३०]

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थान के निरूपण करने के लिए अर्थरूप से अरहंत परमेष्ठी के मुख से निकले हुए, गणधरदेव के द्वारा गूँथे गए शब्द रचनावाले प्रवाहरूप से कभी भी नाश को प्राप्त नही होने के कारण निर्दोष, ऐसे सूत्र को कहते हैं। इस कथन से गौतमगण धर स्वामी द्वारा जिस शब्दिक रूप से महाकम्मपयडी रचा गया था, इसी शाब्दिक रूप से षट्खण्डागम की भी रचना हुई है – यह निस्सन्दिग्ध रूप से स्पष्ट होता है। इसी प्रकार –

'एव दव्वट्ठिय–जणाणुग्गहट्ठं णमोक्कार गोदमभडारओ महाकम्मपयडिपाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जण्ट्ठियाणुग्गहट्ठमुत्तरसुत्ताणि भणदि।'[१३१] इस प्रकार द्रव्यार्थिक (नय) जनो के अनुग्रहार्थ गौतमभट्टारक महाकर्म प्रकृति प्राभृत के आदि मे नमस्कार कर के पर्यायार्थिक–नययुक्त शिष्यो के अनुग्रहार्थ उत्तरसूत्रो को कहते हैं

फिर आगे ('णमो वद्धमाणबुद्धरिसिस्स') ४४ वें सूत्र के बाद –

"णिबद्धाणिबद्ध–भेएण दुविह मगल। तत्थेद किं णिबद्धमाहो अणिबद्–धमिदि? ण ताव णिबद्ध–मगलमिदं, महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीस अणियोगावयवस्स आदीए गोदसामिणा परूविदस्स भूदबलि भडारएण वेयणाखडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद धत्त विरोहादो।"[१३२]

निबद्ध और अनिबद्ध भेद से मंगल दो प्रकार है। उनमे से यह मगल निबद्ध है या अनिबद्ध? यह निबद्ध मगल हो ही नही सकता, क्यो कि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वार रूप अवयवो वाले महाकर्मप्रकृति प्राभृत के आदि मे गौतम स्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है और भूतबलि भट्टारक ने वेदना खण्ड के आदि मे मगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है, अत इसे निबद्ध मानने मे विरोध है।

इस कथन से भी यह स्पष्ट होता है कि गौतम गणधर स्वामी की रचना उसी रूप में इन कृतियो में शब्दश. सुरक्षित है। इसलिए इन

उपर्युक्त सब समीक्षाओं से षट्खंडागम की भाषा गौतम गणधर स्वामी द्वारा रचित द्वादशांग श्रुत की भाषा ही है– ऐसा सिद्ध होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में एक बात और बतानी है। जनता के व्यवहार में प्रचलित कोई भी भाषा लंबे समय तक स्थाई रूप में नहीं रहती, यह सब स्वीकार करते हैं। इसके अनुसार उत्तर भारत में लबे समय तक प्रचलित प्राकृत भाषा समय के साथ परिवर्तित होती जा रही थी– इसमें कोई संशय नहीं है। इसी प्रकार उत्तर भारत में प्रवर्तित जैन आगम की भाषा भी समय के साथ जनता की प्राकृत भाषा से प्रभावित हुई ही नही– ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए इस आगम की भाषा पूरी तरह से अपने मौलिक स्वरूप को देवर्द्धिगणि से (वी.नि.सं०६८०) लिपिबद्ध होने की अवधि तक बनाए रखी थी– यह नहीं कहा जा सकता। अब दिगंबर आगम की भाषा की बात ही कुछ और है। श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के दक्षिणापथ आकर दिवंगत होने के बाद दक्षिण भारत दिगंबर मुनियों का प्रमुख विहार क्षेत्र रहा है। कन्नड, तमिल आदि द्रविड भाषाएँ इस प्रदेश की भाषाएँ रही हैं। उत्तर भारत मे प्रवर्तित आगम भाषा पर वहाँ प्रचलित लोक व्यवहार की प्राकृत भाषा का जैसा प्रभाव पड़ा होगा वैसा दक्षिण में वहाँ की भाषाओं ने दिगंबर जैन आगम की भाषा पर प्रभाव नहीं डाला होगा। इसलिए यहाँ पर दिगंबर आगम की प्राकृत भाषा सदियो तक स्थाई रह कर संस्कृत भाषा की तरह उसी रूप में रही है, ऐसा कहा जा सकता है।

यहाँ पर और एक बात ध्यान देने की आवयकता है– पहले यह कहा गया है कि गौतमगणधर स्वामी ने महाकम्मपयडि के आदि में मंगलरूप से जिन –'णमो जिणाण' आदि ४४ सूत्रों को रखे थे इनको ही भूतबलि स्वामी ने वेदना खण्ड के (षट्खण्डागम : कृति–अनुयोगद्वारम् खण्ड ४– पुस्तक ६) आदि में मगल रूप से रखे है। इन से यह स्पष्ट होता है कि गौतम गणधर स्वामी ने जिस शाब्दिक रूप से इस मंगल सूत्रों की रचना की थी उसी शाब्दिक रूप मे भूतबलि स्वामी ने वेदना खण्ड के आदि मे रखे हैं। इतना ही नहीं गणधर वलय यंत्राराधना की मंत्र पाठ में

भी ये ही मंगलसूत्र उसी रूप में पाये जाते है। इस से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारत में आगम की मूल भाषा कोई विशेष परिवर्तन के बिना रुढि में चलती आई हैं।

श्वेतांबर आगम की भाषा जैसा कि हेमचंद्राचार्य ने बताया है सामान्य (महाराष्ट्री) प्राकृत–मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के लक्षणों से युक्त है और कुछ विशिष्ट लक्षणों से युक्त होने के कारण वह 'आर्ष अथवा 'अर्धमागधी' नाम के साथ अलग भाषा कहलाती है। इस नाम के कारण वह आगम की ही ऋषि परंपरा से आई पवित्र भाषा कहलाने में समर्थ हुई। अब दिगंबर जैन आगम की भाषा सामान्य प्राकृत, मागधी और विशेषरूप से शौरसेनी प्राकृतों के अलावा उनसे व्यतिरिक्त अपने ही कुछ विशिष्ट लक्षणो से युक्त है।[१३३] यह केवल शौरसेनी न होकर अलग से विशिष्ट लक्षणों से भी युक्त है। इसके बावजूद इसे 'जैन शौरसेनी' यह नया नाम दिया गया है। इससे दिगबर आगम की भाषा शौरसेनी की ही एक शाखा मात्र है, ऐसा अर्थ निकलता है और दिगंबर जैन आगम की ही एक प्रत्येक–विशिष्ट भाषा नहीं कहला सकी। गौतम ऋषि परम्परा की पवित्र भाषा नही कहलाकर अर्वाचीन भाषा कहलाने की स्थिति आई। लेकिन इसके अपवादस्वरूप मान्य पिशेल जी ने इस नाम के औचित्य के बारे मे जो कुछ कहा है वह इस प्रसग मे ध्यान देने योग्य है "दिगंबर आगम की इस प्राकृत भाषा को जैन शौरसेनी नाम दे सकते है पर यहाँ जैन महाराष्ट्री इस नाम से अधिक जागरूक रहना चाहिए। कारण यह नाम किसी भी प्रकार से सार्थक नही है। (इट्स ईज बाई नो मीन्स एक्यूरेट) फिर भी मात्र अनुकूलता की दृष्टि से ही यह नाम दिया गया है यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।" शौरसेनी नाम शूरसेन प्रान्त की प्राकृत भाषा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। लेकिन दिगबर जैन आगम की भाषा शूरसेन से अन्वित भाषा न होकर या किसी एक प्रान्त से संबधित भाषा न होकर अलग से आगम की ही भाषा है, इसलिए दिगबर जैन आगम की भाषा को दिया हुआ यह नया नाम बिल्कुल असगत है। मान्य पिशेल की उपर्युक्त चेतावनी की बात पर भी ध्यान न देकर अर्धमागधी (श्वेतांबर) आगम ही मौलिक है और अर्धमागधी प्राकृत भाषा ही (जैन

आगम की) मौलिक भाषा है जैसे पूर्वाग्रहवाले मान्य डॉ. आ.ने. उपाध्ये ने दिगंबर आगम की भाषा को दिया हुआ 'जैन शौरसेनी' यह नाम सर्वथा सार्थक है– ऐसा कहा है । इसके अलावा दिगंबर श्रुतधर आचार्यानुक्रम के एतिह्य मे विश्वास न रखते हुए इन्होंने दिगंबर जैन आगम कृतियों को "प्रोकेनन", बदली या प्रातिनिधिक आगम भी कहा है। इससे ये कृतियाँ वास्तविक (द्वादशांग श्रुत के आंशिक) पवित्र आगम नहीं है और इनकी भाषा भी (गौतम गणधर आदि ऋषि परंपरा से आई) मौलिक भाषा नहीं है, ऐसा अभिप्राय बना है। लेकिन पीछे की हुई समीक्षा से इन आगम ग्रथों की मौलिकता ओर इनकी भाषा की मौलिकता स्पष्ट रूप से निश्चित होती है। गौतम गणधरादि ऋषि परम्परा से आए इन आगम ग्रंथो को "आर्ष" ऐसा पूज्यपाद स्वामी, अकलकदेव आदि पूज्य आचार्यो ने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रथों में बताया है इसलिए दिगबर आगम ग्रंथो की भाषा को "आर्ष प्राकृत" या 'दिगबर जैन आर्ष प्राकृत" नाम देना सर्वथा उचित होगा।

*जयउ सुय देवदा*

## सन्दर्भ सूची


१. मुनि श्री नथमल जी की 'जैन दर्शन – मनन और मीमांसा' पृ६२। इसमें सुधर्मस्वामी केवली रहने का समय २० वर्ष बताया गया है, लेकिन अन्य ऐतिहासिक स्रोतों में '८' वर्ष बताया गया है।

२. यही ग्रथ, पृष्ठ–६२।

३. यही ग्रथ, पृष्ठ–१०१।

४. खरतरगच्छपट्टावली – इंडियन ॲटिक्वेरि वाल्यूं–XI–१८८२ पृ०–२४५–२४६, और तपागच्छपट्टावली, पृ. – २५१ सभूति विजयसूरी और भद्रबाहुस्वामी साथ–साथ दोनों युगप्रधान (आचार्य) थे, ऐसा कहा गया है। तपागच्छपट्टावली के अनुसार स्थूलभद्रसूरि ४५ वर्ष तक युगप्रधान (आचार्य) पद पर थे।

५ परिशिष्ट पर्व, सर्ग–८, श्लो– ३३६।

६ यही ग्रथ, सर्ग १।

७. तपागच्छपट्टावली, स्थूलभद्रसूरि जी का प्रसंग।

८. परिशिष्ट पर्व, सर्ग – ११, श्लो – ११४–१२२।

९. 'श्रमण भगवान महावीर', पृ २३५–२४३।

१० पूर्वसूचित खरतरगच्छ पट्टावली में १०वे ११वे आचार्यो के रूप मे आर्य महागिरि और सुहस्ति जी का उल्लेख कर, महागिरि सूरि की शिष्यपरम्परा को आवश्यक और नन्दिसूत्र मे उल्लेख है ऐसा कहा गया है। नन्दिसूत्र मे कहे गए अनुक्रम के अनुसार स्थूलभद्र सहित छह श्रुतकेवलियो के बाद–७ महागिरि ८ बहुल (बलिस्सह?) ९, साइ, १०. सागज्ज, ११ संडिल्ल अज्ज जीयधर?, १२ समुद्द्र, १३. गगु, १४ धम्म?, १५. भद्द गुप्त, १६. अज्जबइर, १७. रक्खिय, १८ नदिल खवण, १९ नागहत्थि (कम्मपयडी पहाण) २० रेवइ णक्खत्त (ब्रह्मद्वीप), २१ सिंहाचार्य, २२ खंडिलायरिय, २३ हिमवत, २४ णागज्जुणायरिय (णागज्जुणवायर), २५ गोविंद, २६. भूयदिभ (नागार्जुन

शिष्य), २७ लोहिच्च, २८. दूसगणि (नन्दिसूत्र प्रकाशक– अ.भा श्वे स्था. मु. राजकोट १६५८) महागिरिसूरि की इस शिष्य परम्परा से भिन्नुहस्तिसूरिकीशिष्यपरम्परासुस्थित से आरभ होती है।

११ मान्य एच एल कपाडिया की 'दि केनानिकल लिट्रेचर ऑफ दि जैन्स' पृ–६१ और पाद टिप्पणी स ५।

१२. यही ग्रंथ, पृ ६२–६३, पा टि १।

१३. यही ग्रंथ, पृ ६२, पा टि ४।

१४. श्री मुनि नथमल जी की "जैनदर्शन, मनन और मीमासा", पृ.११७, ११८।

१५ दि केनानिकल लिट्रेचर ऑफ दि जैन्स, पृ ६२, पा टि ४।

१६. सामान्य प्राकृतात् किञ्चिद्वैशिष्ट्योपेत नौतादृग् अर्धमाग–धी भाषा नाम्ना पुरातनैर्व्याहारि। जैन सिद्धान्ता धिगतोल्लेख – दर्शनेन परिज्ञायते खल्वर्धमागधी भाषाया प्रतिष्ठा। अन्तिमस्तीर्थ – कृद् भगवान महावीरस्तथाऽन्येपि सर्वतीर्थउ्करा अस्यामेव भाषाया धर्म–मुपदिशन्ति स्म। अपभ्रश काव्यत्रयी, पृ. ८४।

१७. समवायाग सूत्र, स्था – ३४ आ समिति प्रकाशन, पृ ६०।

१८. वाग्भट का काव्यानुशासन।

१६. श्रीमद् भगवती सूत्र, शतक १५, उद्देश – १–१२६१, (श्री हीरालाल हसराज– जामनगर द्वारा प्रकाशित)

२० उपर्युक्त ग्रंथ, १२६५।

२१ श्री अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र, (श्री मानमल जी जिंदाणी, जैसलमेर द्वारा प्रकाशित पृ. ३)

२१ए जैन सूत्रास् – इन्ट्रोडक्शन, पृ – XIVII.

२२. वट्टकेरस्वामी का 'मूलाचार'– (भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन गाहा ५३५, ५३६, ५३७, ६२८, ६२६, ६३०, ६३१, ६३२।

'चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ ।
अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरूत्तरो ।।

२३. उत्तराध्ययन सूत्र, २३, गाहा १२ (२३), १३।

२४. उपरोक्त ग्रंथ, अ २३, गा २७।

२५ मान्य जाकोबि का जैन सूत्रास् – इन्ट्रोडक्शन, पृ. XX, XXI और मान्य नथमल टांटिया का 'लेक्चर्स ऑन जैनिजम्' ऍन्यूअल लेक्चर सीरीज न १ डिपार्टमेंट ऑफ जैनालॉजि, मद्रास यूनिवर्सिटी, पृ १–६।

२६ 'दीघनिकाय, सामड्ड फलसुत्त', पृ० ५० और उपरोक्त 'एन्यूअल लेक्चर्स ऑन जैनिज्म, पृ. १।

२७ चाउज्जामो य जो धम्मो – उत्तराध्ययन सूत्र, २३/१२ (–२३)।

२८. उपरोक्त 'एन्यूअल लेक्चर्स ऑन जैनिज्म पृ. १,२ – मज्झिमनिकाय अत्थकथा (पी टी एस) III, ५८।

२९ उपर्युक्त स सू १८ देखिए।

३० उपरोक्त 'लेक्चर्स ऑन जैनिम्ज' पृ २।

३१ यही पृ २ का कन्नड अनुवाद।

३२ यही पृ ५।

३३ यही पृ १।

३४ यही पृ २।

३५ उपरोक्त १८वी स सू देखिए।

३६ तत्त्वार्थसूत्र –
कायवागमन कर्म योग – ६/१, स आस्रव ६/२, शुभ: पुण्यस्याशुभ पापस्य ६/३, आस्रवनिरोध: संवर: ९/१।

३७ 'मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जो--गा य आसवा होति।
मूलाचार, पञ्चाचाराधिकार – गाहा – २३७।

३८ दसणविरमणणिग्गह णिरोधणेहिं तु णासवदि।
यही, गाहा २४१।

३६ सवराणुपेक्ख –
चलमलिणमगाढ च वज्जिय सम्मत्त–दिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवणिरोहो होदित्ति जिणेहि जिद्दिट्ठ ।।६१।।
पचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहण हवे णियमा ।
कोहादि आसवाण दाराणि कसाय रहिय पल्लगेहि ।।६२।।
सुहजोगस्स पवित्ती सवरण कुणादि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्य णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ।।६३।।
सुद्धुवजोगेण पुणो धम्म सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा सवरहेदू झाणोत्ति विचितए णिच्च ।।६४।।
णिज्जराणुपेवख-
वधेय देसगलण णिज्जरणमिदि जिणेहि पण्णत्त।
जेण हवे सवरण तेण दु जिज्जरणमिदि जाणे ।।६५।।

४० पूर्वोक्त 'लेक्चर्स ——————— पृ. २ – ६।

४१ णायधम्मकहाओ – V – ६०, पृ ७४, ७५।
'सुदसणो वि निग्गओ थावच्चापुत्तवंदइ ——— थावच्चापुत्ते सुदसणेण । एव बुत्ते समाणे सुदसण एव वयासी सुदसणा विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। से वि य विणय दुविहे पन्नत्ते त जहा अगारविणए अणगार–विणए य। तत्थ ण जे से अगारविणए से ण पच अणुव्वयाइं सत्त सिक्खावयाइं एक्कारस उवासगपडिमाओ। तत्थ णं ज से **अणगारविणए** से ण पचमहव्वयाइं त जहा – सव्वावो पाणाइवायावो वेरमणं, सव्वावो मुसावायाओ वेरमणं, सव्वावो अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओवेरमण, सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं जाव मिच्छा दसणसल्लाओ दसविहे पच्चक्खाणे बारसभिक्खुपडिमाओ इच्छे एण दुविहेण विणयमूलएणं धम्मेणं आणुपुव्वेण अट्ठकम्म पगडीओ खवेत्ता लोयग्ग–पइट्ठाणा भवंति। (पृ ७४) ——— परिव्वायग एव वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहओ **अरिट्ठणेमि - स्स** अंतेवासी थावच्चापुत्ते नामं अणगारे ——— (पृ. ७५)

४२. पूर्वोक्त 'मूलाचार', षडावश्यकाधिकार

४३. *बावीसं तित्थयरा सामायिय–संजमं उवदिसंति। 'मूलाचार'* – गा ५३५

४४. सर्वार्थसिद्धि – ६/१८, ७/१ सूत्रो की टीका।

४५. ७/१ की टीका।

४६ यही विषय हाल ही में प्रकाशित "तीर्थकर पार्श्वनाथ" श्री गणेश वर्णी सस्थान द्वारा आयोजित संगोष्ठी १९९९ में 'भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम धर्म'– लेखिका डॉ (श्रीमती) जैनमती जैन का आलेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इनका कहना है कि श्वेताम्बर आम्नाय के स्थानागसूत्र के व्याख्याप्रज्ञप्ति में भी सामायिक और छेदोपस्थापना सयमों का अर्थ इसी प्रकार सुनिश्चित करने और सामायिक करने से चातुर्याम धर्म के पालन होने और सामायिक के भेद कर पॉच यमो मे स्थित होने को छेदोपस्थापना कहा है।' लेकिन इनका यह आलेख इस कृति की रचना के लिए आधार नहीं है। १९७१ मे लिखित मेरी पुस्तक **सन्मति श्रीविहार** (कन्नड) मे (पृ० २६५–२८३) इस 'चाउज्जाम' के बारे मे ही नहीं बल्कि, अचेलक और सचेलक मुनियो के आचारो के बारे मे विवेचन किया गया है।

४७ अचेलको य जो धम्मो जो इमो सतरूत्तरो। -- उत्तराध्ययनसूत्र २३/२९

४८ पूसू – जैन सूत्रास् इन्ट्रोडक्शन, पृ XXII।

४९ इसका निरूपण करने वाली गाहाए इस प्रकार हैं –

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थे।
पिहिआसवस्स सीसे महासुदो बुद्धन्तिकिमुगुणी ।।६।।
तिमिफरणासणेण अगहिय पव्वज्जओ परिब्भट्ठो हु।
रत्तबर धरित्ता पवट्ठिय तेण एयत्तं ।।७।।
मसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय दुद्ध सक्करए।
तम्हा त मुणित्ता भक्खतो णत्थि पाविट्ठो ।।८।।

मज्ज ण वज्जणीयं दव दव्वं जह जलं तह एदं ।
इदि लोए घोसित्ता पवत्तियं सव्व सावज्जं ।।९।।
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धतं ।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुवण्णो।।१०।।
(जर्नल, बॉम्बे ब्रांच रॉयल एसियाटिक् सोसाइटी वाल्यूं – XVII – १८८७, पृ. ३७४ से उद्धृत)

५० यह अर्थ पूर्वोक्त 'विश्वधर्म की रूपरेखा' पृ. ३१ के आधार पर कहा गया है।

५० A मान्य प्रो० सागरमल जैन–अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा।

५१ पूज्य मुनि नथमल की 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' पृ –१०१।

५२. यही, पृ – १०१, पा टि – ७।

५३ वड्डाराधने (कन्नड) पृ. १६७।

५४ उपरोक्त 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा', पृ–१०२, १०३।

५५ इति स्थविर कल्पोऽयं जिनकल्पेऽपि योजित।
यथागममिहोच्चित्य जिनकल्पोऽनुगम्यतां ।।१७०।।
अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिकाव्हये ।
चरंत्येक–यमे प्रायश्चतुर्ज्ञानविलोचना ।।१७१।।

दिगंबर आम्नाय सम्मत स्थविरकल्पी और जिनकल्पी आचरण के संबध में अधिक जानकारी के लिए (जैन ऑटिक्वेरि) 'जैनसिद्धान्त भास्कर' (भाग–१०, दिसंबर १९४३ किरण) में मान्य स्व. कामताप्रसाद जैन का लेख 'जिनकल्प ओर स्थविरकल्प पर श्वेताबर साधु श्री कल्याणविजय जी' (पृ ७३–८८) दृष्टव्य है। षट्खण्डागम के आरम्भ के तीन खण्डों पर कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा परिकर्म नामक टीका लिखे जाने की बात स्पष्ट की जा चुकी है। इनके पश्चात् कालानुक्रम मे श्यामकुन्द, तुम्बलूराचार्य, समन्तभद्र, बप्पदेवगुरु इन आचार्यो ने षट्खण्डागम के आरम्भ के पॉच खण्डों पर और कषायपाहुड पर प्राकृत, संस्कृत और कन्नडभाषाओं में टीकाएँ लिखी है। इनके

अलावा बप्पदेवगुरु से कुछ समय पूर्व पूज्यपादाचार्य ने इस सिद्धॉत के 'सार–संगंह' की रचना की थी। **ईसा की ८ वीं ६ वीं** शताब्दी के मध्य काल में वीरसेनाचार्य ने **षट्खण्डागम** के आदि के पॉच खण्डो पर बाहत्तर हजार ग्रंथ (श्लोक) प्रमाण **'धवला'** नामक टीका लिखी। यह टीका मात्र टीका न होकर **सिद्धान्त'** समझी जाती है, जो इसके अतिशय महत्व को व्यक्त करता है। इस टीका के पश्चात् वीरसेनाचार्य ने **'कषायपाहुड'** पर **'जयधवला'** टीका लिखना शुरु कर बीस हजार ग्रन्थ प्रमाण टीका लिखकर दिवंगत हुए। फिर इनके प्रमुख शिष्य जिनसेन आचार्य ने उस टीका को आगे बढाकर चालीस हजार ग्रंथ प्रमाण टीका लिखी इस प्रकार **'जयधवला'** टीका साठ हजार ग्रंथ प्रमाण है– कालानुक्रम से प्राय: इन आगम ग्रथो के अध्ययन की कमी से ये मात्र एक–दो ताडपत्र ग्रथप्रतियो के रूप में कनार्टक प्रांत के दक्षिण कन्नड जिलान्तर्गत मूडाबिद्रि के श्रुतभण्डार में पूज्य भट्टारकों की रक्षा में पूजित होकर रह गए। इन्हे मुद्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न हुआ। अन्तत. इस प्रकाशन के बारे में अद्म्य इच्छा वाले साधुजनो, सज्जनो, धनिको एव विद्वानो के निरन्तर निष्ठायुक्त कार्ययोजना के परिणायस्वरूप सन् १६३६ मे इसकी प्रथम पुस्तक 'धवला टीका' समन्वित–षट्खण्डागम–सत्प्ररुपणा' प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् षट्खण्डागम के अन्य भाग और कषायपाहुड टीका सहित पूर्णरुप से प्रकाशित ही नहीं हुए बल्कि कुछ भागो का पुनमुद्रण भी हुआ है। इनके प्रकाशन मे कारणीभूत सभी महानुभावों के नाम यहॉ देना सभव नहीं होने पर भी तीन महानुभावों का नामोल्लेख करना आवश्यक है। इन महान ग्रथों के प्रधान सम्पादक मान्य डॉ० हीरालाल जैन और डॉ० ए एन उपाध्ये हैं। प्रत्येक ग्रंथों की इनकी प्रस्तावनाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रंथों के मौलिक सिद्धान्त भाग के प्रमुख सम्पादक मान्य पंडित फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री हैं। ये विद्वान सिर्फ सम्पादक न होकर अनुवादक भी हैं। इनका पाण्डित्य, विद्वत्ता अनुपम है, 'इनकी सिद्धान्तशास्त्री' उपाधि के लिए यह दर्पण के समान है।

५६. यह गणना ७५ वर्ष ३ माह की होती है।

५७. भगवान महावीर की गर्भावतरणादि कालगणना करते समय इस समय चल रहे महीनों का अंत अमावस से होने की तरह न कर पूर्णिमा के साथ अत होने वाली मास गणना लेनी चाहिए। इसके अनुसार भगवान महावीर के जन्म के दिन से तीसरे दिन वैसाख माह शुरू होता है। इनका निर्वाण कार्तिक माह के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को हुआ ऐसा निर्वाणभक्ति पुराण आदि परपरागत सिद्धान्त साहित्यों का कहना है लेकिन इस समय चल रहेअमावास के साथ पूर्ण होने वाले माह की गणना के अनुसार आश्विन माह के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को वह निर्वाण का दिन मेल खाता है। इसके साथ परंपरागत कथन का समन्वय करने पर आज के समय का आश्विन मास का कृष्णपक्ष भगवान के निर्वाण के समय की गणना के अनुसार कार्तिक मास का कृष्णपक्ष होता है। (देखिए–मुक्कोडै, मई ९०, पृ. ११–१४)

५८ श्री वर्धमानमवनम्य सगमं प्रतिपन्नवान्।
महापुराण–वर्धमानपुराण–३६८

५९. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदं पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि।।५४।।
सावणबहुल पडिवदे रूद्दमुहुत्ते सुहोदए 'र'–विणो।
अभिजिस्स पढमजोए एत्थ जुगाई मुणेयण्वो ।।५७।।
(षट्खडागम, भ–१, पु.१)

६० यही, षटखंडागम उल्लिखित गाहा ६१ के बाद।

६१ इति श्रुतर्धिभिः पूर्णोभवं गणभृदादिम ।।३७२।।

६२ यही, श्लो. ३७३, ३७४।

६३. दशभक्ति– (प्राकृत) श्रुतभक्ति।

६४. यही (संस्कृत) श्रुतभक्ति देखिए, इसमें दिए गए 'अशीतिक' नाम को धवला टीका मे 'णिसीहिय' या 'णिसिहिय' (हिंदी) 'णिसिद्‌िका' नाम दिया गया है।

६५. वर्धमानपुराण, श्लो – १६३३।

६६. यही, श्लो. १७५५, १७५८।

६७. पू०सू. षट्खंडागम, पृ. ६७।

६८. श्रुतावतार, श्लोक १३८ – १६०।

६९. यही – आद्य जीवस्थानं क्षुल्लकबंधाह्वय द्वितीयमतः।
बंधस्वामित्व भाववेदना वर्गणा खंडे ।।१४१।।

७०. यही, श्लो १५०–१६०।

७१ षट्खडागम, पृ. १६।

७२ दि सर्च फॉर सैनस्क्रिट एमएसएस इन् दि बॉम्बे।
प्रेसिडेन्सि– दि इयर १८८३–८४ आर जी भंडारकर।

७३ इडियन ॲटिक्वेरि,वाल्यू XXI, फरवरी – मार्च – १८९२, पृ ५, मान्य रूडोल्फ होएर्नल जी का 'पट्टावलीस ऑफ दि सरस्वती गच्छ' (नदि आम्नाय पट्टावली) लेख।

७४ 'वड्डाराधने' (कन्नड) पृ १३६–१३७।

७५. वायुपुराण।

७६ जैसा कि पीछे कहा गया है, इस घटना के विशेष शोधपूर्ण विवरण के लिए इसी लेखक के (डा एमडी वसन्तराज) के **सन्मति श्रीविहार (कन्नड)** और 'कराबोरेषन् ऑफ दि एजस् ऑफ भगवान महावीर एण्ड गौतम बुद्ध' देखे जा सकते हैं।

७७ ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असकिलिट्ठमदी।
घोराए तिमिछाए पडिवण्णों उत्तमं अट्ठ।।(१५३९ या १५४४)

७८. चंद्रगुप्त मुनि को भिक्षाटन के लिए बन में जाते समय वहाँ वृक्ष के कोटर में से माणिक्य मोतियों से युक्त कंगनों को कसकर पहन हुए एक हाथ आगे बढ़ाकर देने के लिऐ चेष्टा करता भिक्षा है। (सिर्फ हाथ ही दिखाई देता है, व्यक्ति दिखाई नहीं देता) इस घटना के समान एक घटना उत्तराध्ययनसूत्र–द्वितीय परीषहा ययनं क्षुत्परिषह की कथा में देखी जा सकती है।

७९. महापुराण, पर्व, श्लो– १४६।

८०. पंच सए पण्णसठे अतिम जिणसमय जादेसु।
उप्पण्णा पंचजणा इयंगधारी मुणेयव्वा ।।१५।।

८१ अर्हद्बलि–गुरूश्चक्रे संघसघट्टनं परं।

८२ मुनि नथमल जी का 'जैन दर्शन: मनन और मीमांसा' पृष्ठ–१०२

८३ छत्तीसे वरिस सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए सेवडसंघो समुप्पण्णो।।
सिरि भद्दबाहु गणिणो सीसो णामेण संति आइरिऊ।
तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो।।
तेण य कय मदमेदं ––––––।

इस वक्तव्य की समीक्षा करने की आवश्यकता है। साधारण रूप से विक्रमसंवत् वीर निर्वाण के बाद ४७० वे वर्ष में (ई०पू ५८ में) विक्रम के जन्म के समय के आधार पर चल पडा है-- ऐसा नंदि आम्नाय पट्टावली के उल्लेखों से ज्ञात होता है। लेकिन आचार्य देवसेन ने 'विक्रम की मृत्यु के समय से काल गणना बताई है। संभवत: 'शकविक्रम' विक्रमादित्य को ही शक समझकर यह काल गणना की गई है, ऐसा समझना होगा। नदि आम्नाय पट्टावली उल्लिखित विक्रम से संबधित इतिवृत्त के अनुसार विक्रमादित्य अपनी २४ वर्ष की आयु मे शक राज को मारकर वी.नि.सं. (४७०+२४) ४९४ में राजा बना। इस समय का आधार पर १३६ वर्षो की गणना करने पर (४९४+१३६) की वी नि सं. ६२० वाँ वर्ष होता है। जैसा कि श्रुतधर आचार्यानुक्रमणिका मे बताया गया है। (तृ) भद्रबाहु वी नि.सं ६१० से

६२३ तक आचार्य पद पर थे इसलिए इनके समय मे ही दिगंबर और श्वेतांबर पंथों का उदय हुआ है, ऐसा समझ सकते हैं।

८४. पू.सू. सिद्धान्त भास्कर (जैन ऑटिक्वेरि) दिसम्बर १९४३, जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वेतांबर साधु श्री कल्याण विजय जी श्री कामताप्रसाद जैन का लेख।

८५ षट्खण्डागम पुस्तक–२, प्रस्तावना पृ ३४–४०।

८६ यही, पुस्तक – १, प्रस्तावना, पृ ५०।

८७ इन महानुभाव का प्रस्तुत विषय का लेख पढा है। लेकिन यह प्रबध लिखते समय उस लेख का स्रोत (आधार) क्या है, भूल गया हूँ। इतने पर भी मान्य प फूलचंद्र सिद्धान्त शास्त्री का वक्तव्य यहाँ उदधृत करता हूँ। सर्वार्थसिद्धि भा ज्ञा पी प्रकाशन प्रस्तावना, पृ ६३।

८८ उपर्युक्त सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ ५७–६८।

८९ प्रकाशक – पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, सशोधित एव परिवर्धित तृतीय संस्करण, सन् १९७६।

९० षट्खडागम, पुस्तक – १, प्रस्तावना, पृ. ५२।

९१ कल्याणे वरणयरे दुणिसए पच उत्तरे जादो।
जाऊलिय सघ भेऊ सिरिकलसादो हु सेवडदो।।
यहाँ पर बताए गए दुणिसए पच उत्तरे (२०५) को विक्रम संवत समझा गया है, ऐसा लगता है। परन्तु यहाँ विक्रम सवत् का सकेत ही नहीं है, इसके विपरीत 'सेवडदो' इससे स्पष्ट रूप से उस पथ के उदय से २०५ वे वर्ष में– ऐसा अर्थ निकलता है। इसके अनुसार यह पता चलता है कि यापनीय सघ (१३९+२०५) विक्रमसंवत् ३४४ में अर्थात् चौथी शताब्दी में उदित हुआ है।

९२ जैन साहित्य और इतिहास, आराधना और उसकी टीकाएँ। पृ०२३–४०

९३ महापुराण –१/४९।

९४. कर्नाटक हिस्टॉरिकल रिव्यू – जून एण्ड दिसेम्बर – पंचस्तूपान्वय।

९५ षट्खंडागम, पुस्तक–१, प्रस्तावना, पृ. ३६।

९६. यही, प्रस्तावना, पृ. ३४–४०।

९७. एक संवत् को दूसरे संवत् के रूप में परिवर्तित करते समय महीनों की गणना से अंतर आता है। इसलिए कुल मिलाकर अधिकाधिक १ वर्ष का अंतर उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार नंदि आम्नाय पट्टावली में बताए गए आचार्यों की पद काल गणना में महीनों की गणना न कर स्थूलरूप से वर्षो के रूप में गणना की गई है।

९८. इडियन ऑटिक्वेरि– वाल्यूं – XXI, फरवरी–१८९२, पृ ७२ प्रो.ए एफ रूडोल्फ होएर्नल (की न.आ. पट्टावली)।

९९. शिवभूति द्वारा दिगंबर पंथ के उदय होने की कथा के बारे में मान्य कैलाशचन्द्र शास्त्री की '**जैनधर्म**' पृ. २९३ – २९४ देखी जा सकती है।

१००. हेमचंद्राचार्य के परिशिष्ट पर्व के आधार से।

१०१. मूलाराधना मूल की बैरकुमार स्वामी की कथा। वृहत्कथाकोश में (१२वीं कथा) है। यहॉ पर वज्र–वइर–वैर बना है।

१०२. १ ले शिलालेख के केद्र व्यक्ति के बारे में गणनीय मतभेद है · १– मान्य बी.एल रैस के अनुसार ये श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी, २– मान्य फर्ग्यूसन के अनुसार् द्वितीय भद्रबाहु, ३– भद्रबाहु के शिष्य प्रभाचद्र – इसके अनुशीलन के लिए इस प्रबंध के लेखक की (१) सन्मति श्रीविहार (२) जैनागम इतिहास दीपिका (दोनो कन्नड भाषा में) देखी जा सकती हैं।

१०३. षट्खडागम, पु. २, प्रस्तावना पृ ३५ – ३६ (पट्टावली समुच्चय से उद्धृत)

१०४. तपागच्छ पट्टावली – इंडियन आंटिक्वेरि, वाल्यू – XII, पृष्ठ २५१।

१०५. पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियान्तर्गत गुरूनामावली देखें, यह अर्हद्‌बलि स्वामी की स्तुति के साथ आरंभ होती है। एक्स्ट्रा नं. आफ दि बॉम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एसियाटिक सोसायिटी – १८८३, पृ. १६३।

१०६. महाबंध – भाग–२, पुस्तक २, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन–१९९८ प्रस्तावना, 'गिरनार चंद्रगुहा'।

१०७. 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनं' षट्खडागम सत् प्ररूपणा, पु. १ भाग १, पृ. ३०/२५ – २६।

१०८. गाथाचूर्ण्यूच्चारणसूत्रैरूपसंहृतं कषायाख्यं।
प्राभृतमेवं गुणधर यतिवृषभोच्चारणाचार्यैः।।१५६।।(इंद्रनंदि, श्रुतावतार)

१०९. गुणधर धरसेनान्वय गुर्वोः पूर्वापरक्रमोडस्माभिः ।
न ज्ञायते तदन्वय कथकागम मुनिजनाभावात् ।।१५०।।
(श्रुतावतार)

११० प्रवचनसार, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास १९६४, प्रस्तावना पृ. २३ – २४।

१११. 'पाहुड तिण्णिसहस्सा णव य सया चउदसाणंपि'। दशभक्ति – श्रुतभक्ति

११२ षट्खडागम पु. १, भा. १, प्रस्तावना पृ ५२।
इस बारे में विस्तृत समीक्षा 'जैनागम इतिहास दीपिका' (कन्नड) (पृ २१० – २३०) में देखी जा सकती है।

११३. तिलोय पण्णत्ति, भाग – २, प्रस्तावना पृ–१०।

११३ए प्राकृत विद्‌या (त्रैमासिक शोध पत्रिका) अक्टूबर – मार्च १९९८–९९ (सयुक्ताक) पृ ४०, धरसेन की एक कृति जोणिपाहुड, आचार्य नागराज डी. लिट्।

११४. एच आर कपाडिया की 'दि केनानिकल लिट्रेचर ऑफ दि जैनास्' पृ ३७।

११५ यही, पृ ६१७।

११६. (१) "दिगंबर, वीर निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमों का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं। पूज्य मुनि नथमल 'जैन दर्शन मनन और (इतिहास) मीमांसा, पृ. ११२।

(२) पूर्वोक्त प्राकृत विद्या – 'षट्खण्डागम – एक परिचय' "उन्होंने (दिगंबरों ने) महावीर भाषित वांगमय को विच्छिन्न माना" – आचार्य नागराज डि.लिट्।

११७. पूर्वोक्त प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ. ११८।

११८ यही ग्रंथ प्रस्तावना, पृ. ११६ इस ग्रंथ के अलावा इनकी (डॉ. आ ने उपाध्येजी की) **प्राकृत लैंगवेज एण्ड लिट्रेचर,** पृ. ११७ भी देखी जा सकती है।

११६ पूर्वोक्त 'दि केनानिकल लिट्रेचर ऑफ दि जैनास्' पृ. ७८–७६।

१२० पूर्वोक्त 'जैन दर्शन मनन और मीमासा' पृ. ११३।

१२१. आचारांग की भाषा को विद्वानों ने अधिकतम ई पू. ४ थी शताब्दी की माना है। साथ ही कुछ विद्वानों का अभिप्राय है कि इसकी भाषा १ ली अथवा २री शताब्दी की भाषा है।

१२२ पूर्वोक्त 'प्रवचनसार' प्रस्तावना पृ १०६–१२०।

१२३. **"ऑन दि लैंग्विज ऑफ दि षट्खण्डागम", डा. सत्यरंजन बनर्जी**, श्री गणेशवर्णी दिगबर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी'
सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचद्र शास्त्री फाउन्डेशन, रूडकी, के सहयोग से प्रकाशित, जनवरी १६६६।

१२४ पूर्वोक्त, प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ ११८।

१२५. ए एवोल्यूशन ऑफ मागधी – अनत बैनर्जी शास्त्री, पृ. २७ (२८)।

१२६. यही, पृ. ४४ (३७)।

१२७ इन्द्र (आन्ध्र) देश के वेणातटाकपुर – श्रुतावतार और पूज्यपादचरित्र।

१२८. 'प्रवचनसार', प्रस्तावना, पृ ११८।

१२९. 'सूत्रपाहुड', गाहा ६१।

१३०. षट्खण्डागम, पुस्तक—१, पृ. १६२ (गाहा —१२५ के बाद)।

१३१. षट्खण्डागम – चतुर्थ वेदनाखण्ड, कृति अनुयोगद्वार पुस्तक—६, पृ.१२, २ रे सूत्र के पहले।

१३२. यही, पृ. १०३, ४४वें सूत्र के बाद।

१३३ मान्य आर पिशल की 'ए ग्रामर ऑफ दि प्राकृत लैंगवेजिस्' पृ.२४ और मान्य डॉ आ.ने. उपाध्ये की 'प्रवचनसार' प्रस्तावना, पृ. १०६—१२०।